स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

बम् लहरी

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की रचनाएँ



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

बम् लहरी

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा

प्रथम प्रकाशन 2009
पुनर्मुद्रण 2013

ISBN: 978-81-86336-75-5



प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

वेबसाइट: www.biharyoga.net

डिज़ाइन एवं ले-आउट: क्राफ्टवर्क, गुड़गांव, मुद्रक: एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स, ग्रेटर नोएडा

अनुक्रमणिका



In humility we
offer this to
Swami Sivananda Saraswati,
who
inspired and guided
Swami Satyananda Saraswati.







बम् लहरी के नाम से इस ग्रंथ में स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की अंतश्चेत्य-गंगा की लहरें हैं, जो उनके बाल्य-काल से ही प्रवाहित हो रही हैं, जो शुद्ध, सरल, सात्त्विक, सौरभ हैं, सुरभि हैं।

परमहंस जी ने भर्तृहरि के वैराग्य-शतक का पद्यानुवाद सन् 1938 में किया था। पूर्वाश्रम में सर्व-सुखों के मध्य छोटी उम्र में ही इस तरह का अध्ययन और अनुवाद इस बात का स्पष्ट संकेत है कि उनकी जन्म-जन्म की साधना व संस्कार इसी दिशा की ओर थे।

गृह-त्याग के उपरान्त भी लेखनी चलती रही, गुरु आश्रम में गुरु वंदना, गुरु-ज्ञान-गंगा के गीत प्रवाहित होते रहे, अपने भाव रूपी प्रसूनों को गुरु चरणों में अर्पित करते रहे।

परिव्रजन काल से 'विश्व योग आन्दोलन' के प्रारंभ तक एक अदृश्य-शक्ति, गुरु व प्रभु के समक्ष अपने जीवन के अर्पित व समर्पित भाव की एक-एक कड़ी, मानस फूल की एक-एक पंखुड़ियों को अंकित करते रहे। इन कविता-गीतों में गीता, उपनिषद्, वेद, पुराण समाहित हैं। इनमें निहित आत्म-उद्गार ज्ञान, भक्ति, श्रद्धा की त्रिवेणी में स्नान और सप्त लोकों की यात्रा कराने में समर्थ हैं।

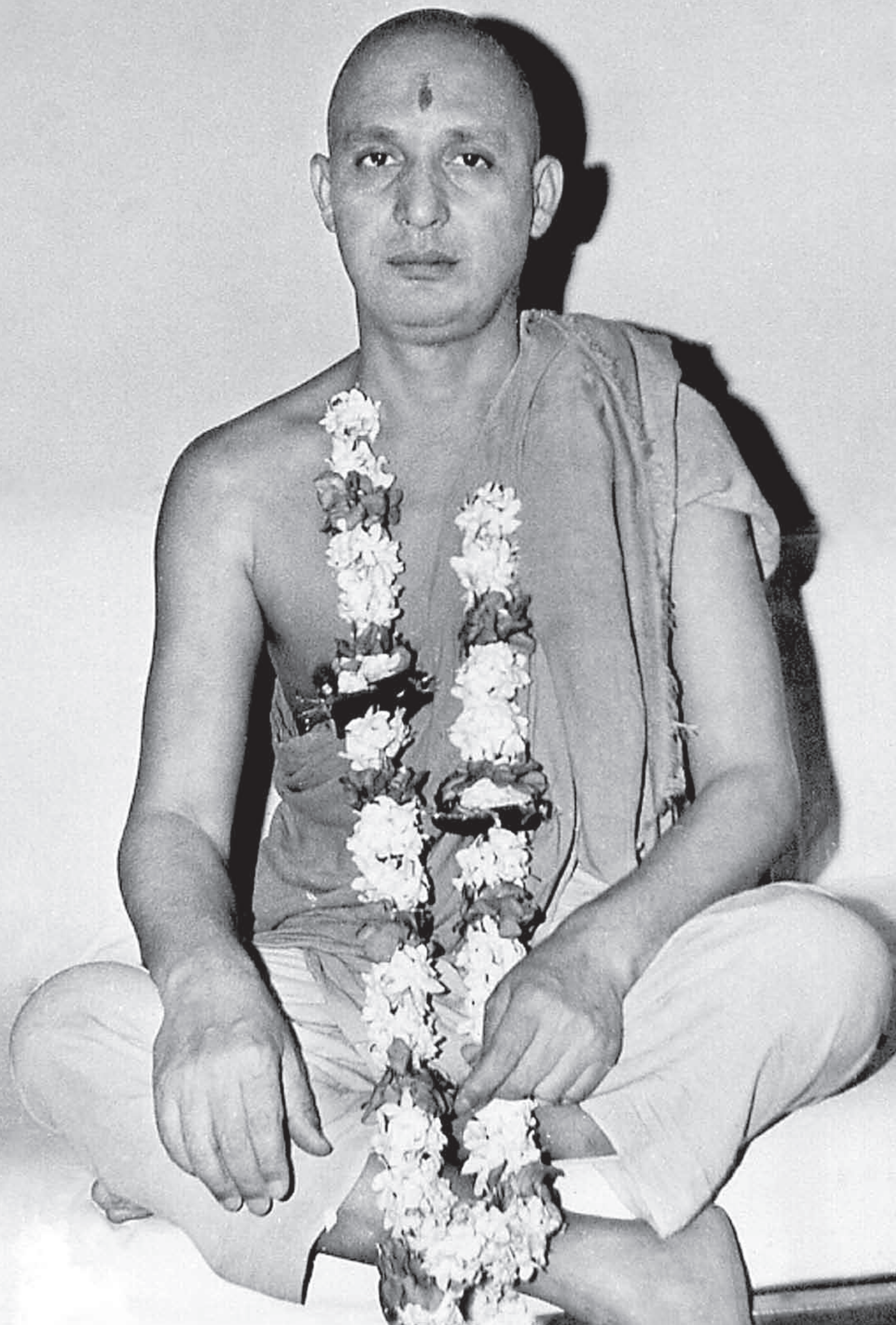
परमहंस जी इन रचनाओं को 'बम्-लहरी' कहते थे। कभी ताल-लय की बात होती तो वे कहते थे –

कोई सुर या तान न जिसमें, गति लय की पहचान न जिसमें।
उस विशिष्ट श्रोता के प्रति, ऐसे गीत मुझे गाने दो।।

संतों की भाषा अटपटी तो होती है, पर है प्रेरणा का स्रोत व कल्याण का पथ। संतों का हृदय जब दिव्य रागात्मकता से तरंगित हो उठता है, तब अनायास ही ऐसी पंक्तियाँ निःसृत हो उठती हैं, जिन्हें 'निर्वाणी-पद' की संज्ञा मिल जाती है। 'निर्वाणी-पदों' को न तो छन्दों के या व्याकरण के बन्धन ही जकड़ सकते हैं और न सामान्य अर्थ-बोध की परम्परा; उनका महत्त्व तो उनकी प्रेरणाओं में ही रहा करता है। वे पूरे हों या अधूरे हों, संस्कृत हों या प्राकृत हों, प्रत्येक रूप में श्रद्धालुओं के प्रेरणा स्रोत होंगे। अतः 'संत हृदय के परिमल' सभी के लिये हैं।



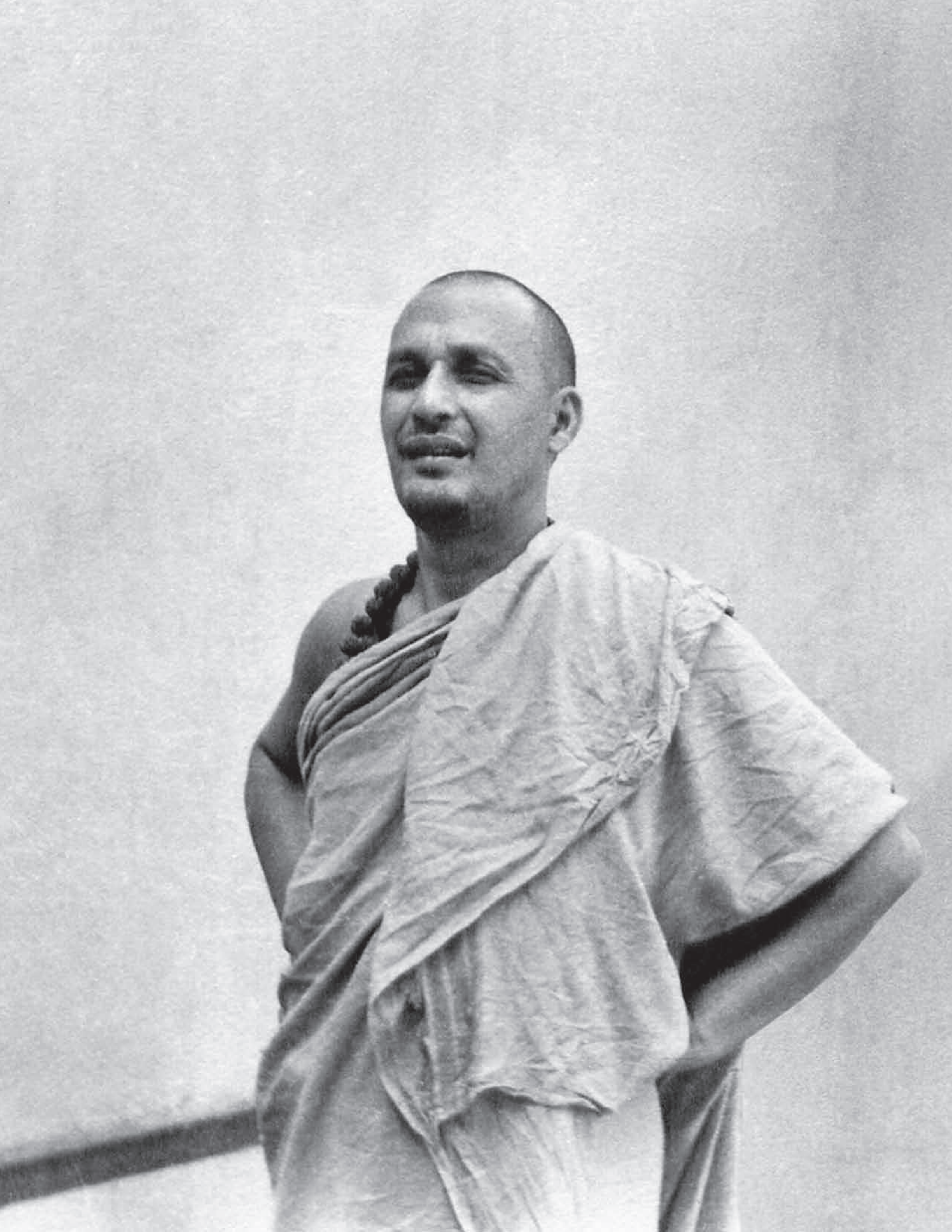




गुरु के प्रति

हे दिग्विजयी!
तुम्हारे गीतों में गीता है मेरी,
जिसको मैं गाता हूँ अब,
क्योंकि यही आदेश तुम्हारा था।
तुम ही हो प्रेरणा मेरी,
भव्य जिसे कहता हूँ मैं और अमर-
गीतों के देव। चित्रों के सौंदर्य सनातन।
तुम्हारी दिग्विजय को गाना,
अनन्त की गोद में चिरन्तन नींद सोना है,
और है जीवन का चमत्कार।
अमर पथ के हे! अमर तपस्वी,
कूटस्थ अचल, अवतार महान्,
तुम्हारी ज्योति जलती रहे, प्रेरणा फलती रहे।
मेरी तूलिका अमर रहे, और लेखनी अप्रतिहत –
मैं लिखते रहूँ औ, लिखते ही रहूँ।
और चलते रहूँ तुम्हारे चरण-चिन्हों पर॥

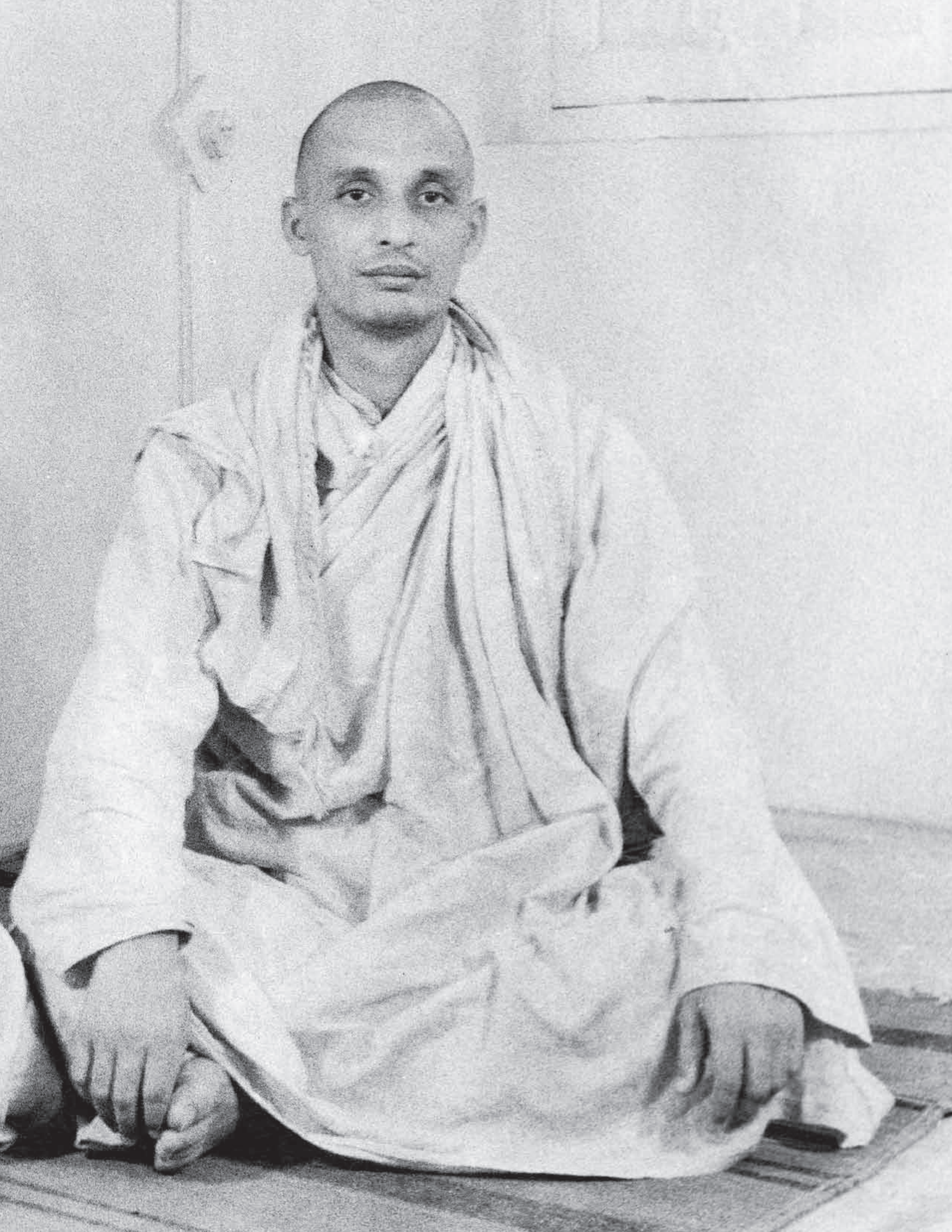




सन्त-हृदय के अभिनव परिमल

मेरे जीवन के पावन परिमल।
तुम भर दो युग को
अपने सौरभ से, सुख से,
मधु औ गौरव से,
बह निकले युग का मल,
जग हो निर्मल,
प्रतिक्षण, प्रति पल,
इस ओर अमल,
उस ओर विमल,
दिशि-दिशि निखर उठे परिमल।
जन जीवन में बिखर पड़ो हे!
संत-हृदय के अभिनव परिमल
सत्य, अहिंसा, संयम के
गुरु गौरव से भर दो परिमल।



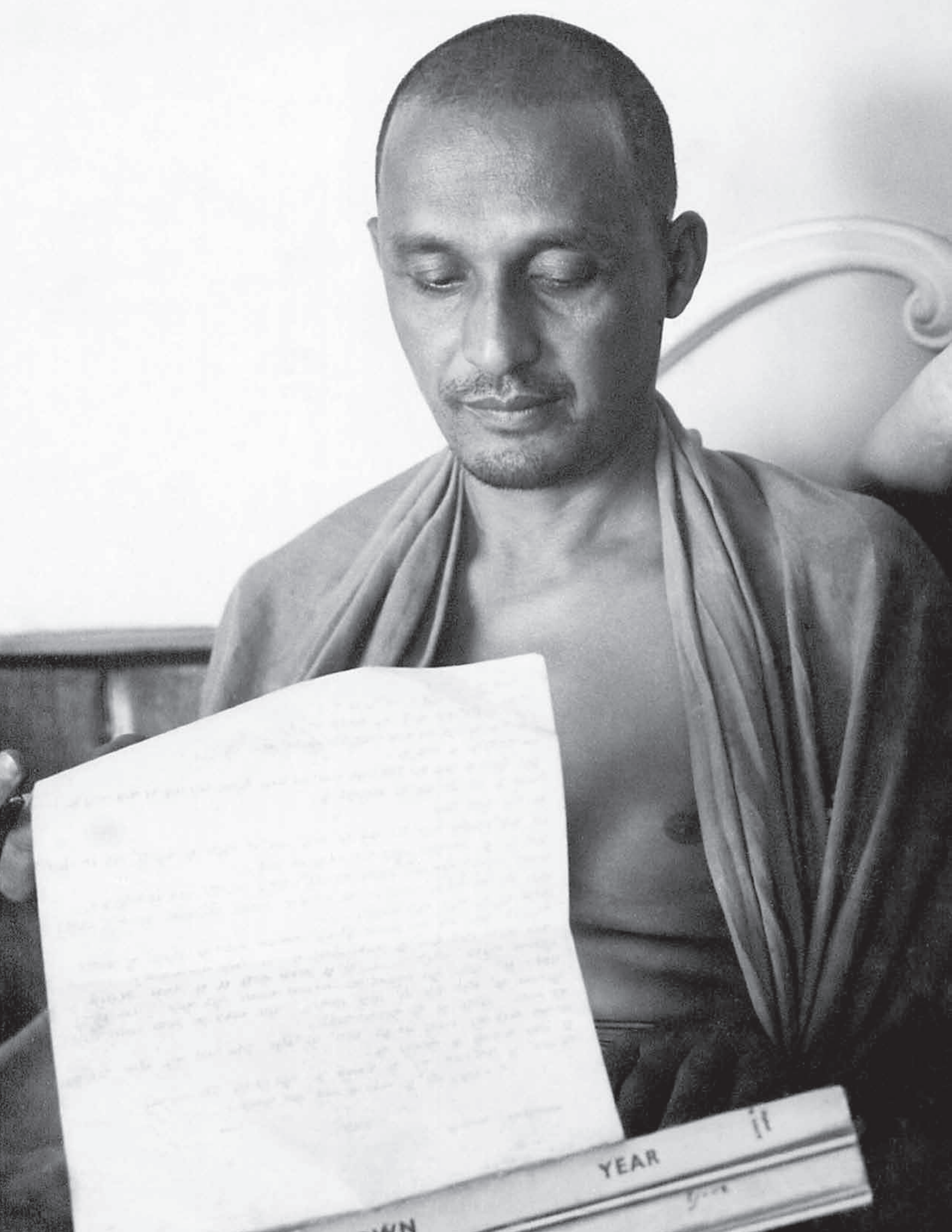


लक्ष्य

देखो संन्यासी!
हिमालय की मालाओं की ओर,
गाओ प्रेष्य मन्त्र पवित्र,
'भू:' संन्यस्तं मया
'भुव:' संन्यस्तं मया
'स्व:' संन्यस्तं मया
के अंतर्गीत।
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत,
तार स्वरों में गाओ जीवन गीत।

प्रणव मंत्र का नाद लगा दो,
जन-जन में चिर मंगल ला दो,
गंगा की लहरों की गति में,
जीवन-वीणा के गीत सुना दो।




YEAR

जीवन-परिचय

यह मिट्टी है या सोना है?
जीवन के इस राग रंग पर हँसना है या रोना है?
कोई कहते इसमें सुख है,
कोई कहते दु:ख ही दु:ख है,
तुम्हीं मुझे बताओ मेरे साथी, आखिर में जो होना है।
जीवन सुख का हार पहन लो,
या फिर दु:ख की चोटें सह लो,
कभी नहीं यह कहना साथी, जीवन सुख-दु:ख रोना है।
जीवन में तो सब कुछ धन है,
कंचन भी है, कंकड़ भी है,
सदा यही बतलाना साथी, जीवन सुख है सोना है।





आत्म-साक्षात्कार

पूजा किसकी नीराजन किसका,
मेरा - मेरा - मेरा।
मैं वेदों का मित्र इन्द्र हूँ
मैं हूँ ब्रह्मा देव सनातन,
किसकी पूजा ...
मेरी - मेरी - मेरी।
मैं क्यों जाऊँ मंदिर,
क्यों गंगा सागर जाऊँ,
मुझमें ही तो अनन्त सरोवर,
मेरी पूजा मुझसे ही करवाते हो,
कैसी विडम्बना कैसा ढोंग?
रोम-रोम में मेरे राम अनेकों,
कृष्ण अनेकों, रुद्र अनेकों,
मैं ही देवी, दुर्गा, काली,
फिर मुझसे जप करवाते हो।
मैं सब कुछ कर सकता हूँ,
मानव मन को रंग सकता हूँ,
पूजा किसकी नीराजन किसका
मेरा - मेरा - मेरा।



किन हारों का मैं फूल बनूँगा

जिन हारों का मुकुलित वैभव,
माधव का शृंगार बना था,
जिनकी उज्ज्वल आभा से,
काला तन अविकार बना था,
सीता-राधा की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
या फिर रति के मत्त पवन में,
नीले-पीले नव यौवन में,
लहराते बलखाते काले रौरव,
की अलका के उपवन में,
रम्भा, उर्वी की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
या फिर संयम की गोदी में,
हँसते-हँसते पैर पसारे,
अपने उर के भावों को चुन,
अपने कोमल हाथों में ले,
जीवन-मस्तक की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
या फिर मन की मस्ती में बह,
अपना सब का भोग करूँगा,
सुरा-सुन्दरी की तंग बटी में,
आत्मा का संहार करूँगा,
मृत्यु-कराली की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
या फिर गौरव की गाथा के,
गीतों का उच्चार करूँगा,
सन्ताप-रुदन की धूलि में,
रमतों का शृंगार बनूँगा,
लुटी पड़ी विधवा की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
या फिर अपनी छाती पर,
तुमको ले डूब चलूँगा,
स्वार्थ-हनन का वेश सजाकर,
सौ-अनुजा का रूप हरूँगा,
इतराती पुतली की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
या फिर ममता के धागे में,
सारे जग का हार बनूँगा,
तेरी उसकी सबकी वेणी,
के मस्तक का अभिसार करूँगा,
उज्ज्वल धूमिल मानव की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
या फिर हिंसा-निर्दयता के,
पैरों का आघात सहूँगा,
धूल-धूल में पड़ा-पड़ा मैं,
युग-युग का इतिहास कहूँगा,
धूरों के अभिशापों की वेणी के हारों का मैं फूल बनूँगा।
मैं एकाकी फूल पड़ा हूँ,
शतदल सारा सूख चुका है,
अमर सुहागिन कब आवोगी,
युग का अर्सा बीत चुका है।
निश्चय मेरा ऐसा ही है, मानवता का ही फूल बनूँगा।
अमर सुहागिन की वेणी के हारों का ही फूल बनूँगा।।
चाहे युग बीते या रुक जाएँ,
रम्भा-उर्वी आवें-जावें,
मदमातों की अर्थी का मैं,
फूल नहीं, कटु-शूल बनूँगा,
मुझे उठाओ, देवी तुम, अपने सिर माथे-पर धर दो।
मैं तो तेरे अन्तर के भावों का ही फूल बनूँगा।।



नश्वर जग के भोग त्यागो

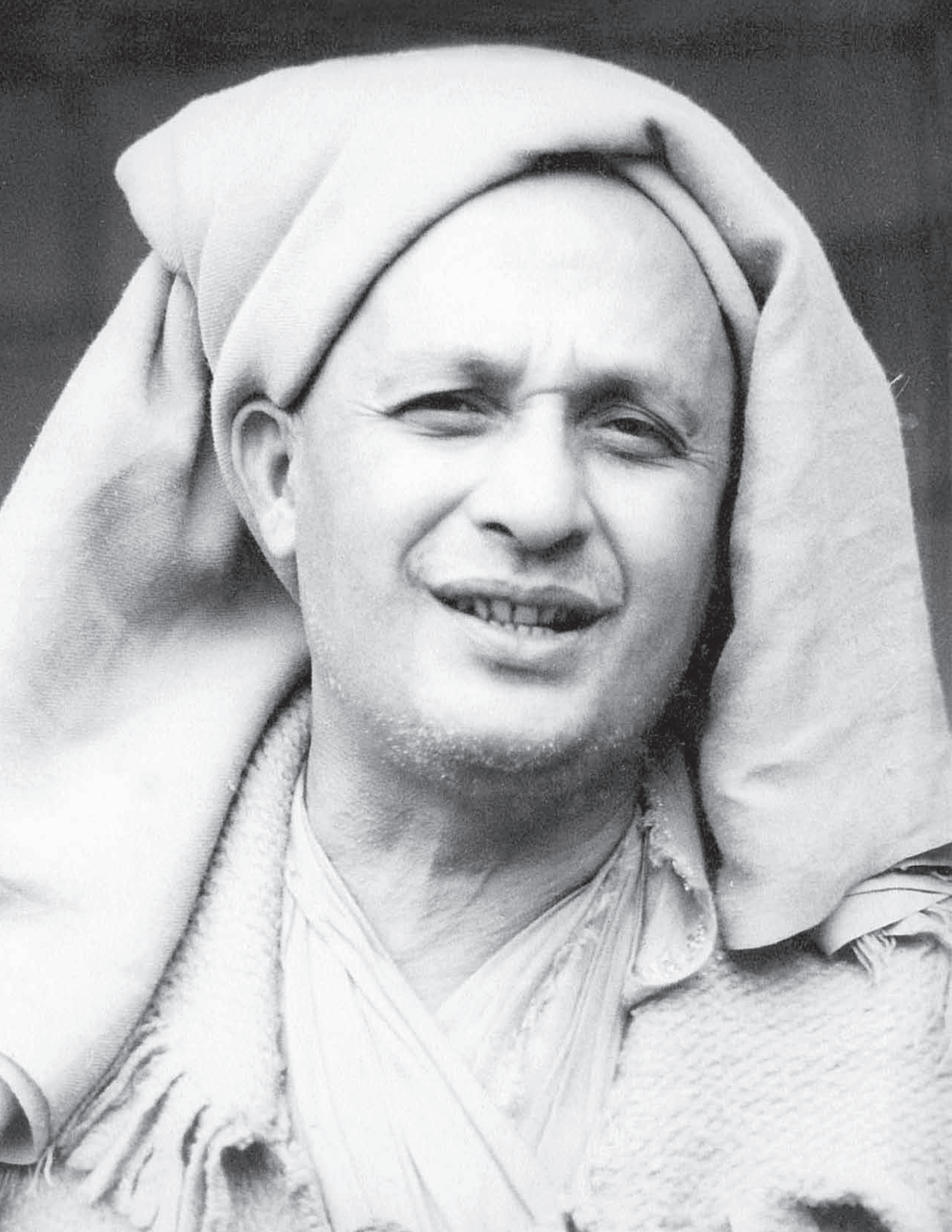
बीत गया हा! समय हमारा,
नश्वर जग के भोगों में ही।
महाभ्रमण से थके हुए हैं,
तब से जग की पथिका में ही।।

आज चलें गंगा तट पर,
ईश्वर-वंदन करते-करते।
नश्वर जग का त्याग किये हैं,
'शिव, शिव, शिव' ही होंगे रटते।।



जाग चुके हैं प्राण हमारे

जाग चुके हैं प्राण हमारे।
भीनी-भीनी भावों की,
निखर पड़ी है नवल व्यार,
तिमिर हृदय का भाग रहा है,
जाग चुका है ज्योतिर्धार,
जीवन की उषा में अब,
जाग रहे हैं दोष हमारे,
जाग चुके हैं प्राण हमारे।



ओ माँझी

माँझी, ओ माँझी
कितनी दूर किनारा रे, मुझे दूर नगरिया जाना॥
काले-काले बादल छाये, रह-रह बिजली चमकाते।
बड़ी तरंगें लम्बा दरिया, दूर दिशा को जाना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
काम क्रोध ने मुझको घेरा, लोभ मोह का बसा बसेरा।
शांत किनारा कहाँ है माँझी, कितनी दूर किनारा॥
माँझी, ओ माँझी मुझे दूर...
युग-युग से मैं चलती आई, काँटों में मैं पलती आई।
आज तुम्हारे घर में बसने, तेरी नगरिया जाना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
मेरा कोई मीत नहीं है, गीत नहीं है रीत नहीं है।
तू ही मालिक मेरा सब कुछ, अपने घर ले चलना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
तपती हूँ मैं, जलती हूँ मैं, अंगारों में चलती हूँ मैं।
सुधा सिन्धु के केवट रे, दूर दिशा को जाना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
हाथ पकड़ कर ले चलना, उर में भर कर ले चलना।
सिर पर धर कर, उर में भर कर, अपने घर को ले चलना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
दिन में चलना, दिन भर चलना, रात अंधेरी तो भी चलना।
सुख में, दु:ख में, सुख-सम्पत्ति में, अपनी नगरिया चलना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...



युग-युग तक मैं संग रहूँगी, हे शिव तेरा रूप बनूँगी।
तू शिव है, मैं उमा तुम्हारी, मैं तेरी तुम मेरे रहना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
मैं जंगल का फूल रहा हूँ, उपवन का उल्हास नहीं हूँ।
मत ठुकराना, फेंक न देना, अपने संग ले चलना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
हे शिव अपने हाथ बढ़ाओ, खींच मुझे तुम पास बिठाओ।
पास बिठा लो, एक बना दो, मैं तुममें तुम मुझमें रहना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
तन भी ले लो, मन भी ले लो, इस दुनिया का सब कुछ ले लो।
जो कीमत हो, सब कुछ देकर, अपने संग ले चलना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
पाप पुण्य का पूरा संचय, अमर गीत का पूरा वैभव।
तुमको सब कुछ दे देने को, तेरी नगरिया जाना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...
माँझी जल्दी नाव चलाना, तूफान तिमिर के पार है जाना।
ले चल, ले चल पार, रे माँझी, प्रेम नगरिया जाना॥
माँझी, ओ माँझी, मुझे दूर...

एक स्वप्न

(कोई गा रहा है)

रात अंधेरी मैं पड़ी अकेली,
मीत कहीं औ',पंथ कहाँ रे,
इन हाथों को बन्धन घेरे,
शान्ति, सत्य औ' मुक्ति कहाँ रे।

(नदी के किनारे से एक गीत उठा)

जीवन-जमुना भर आई है,
आँखों की बहती धारों से,
लहर-लहर में घहर-घहर,
होती दोनों कूलों से,

(मंदिर में पत्थर के पास एक विधवा खड़ी रोती आहें भरती)

तुम उतरो सूने कोनों में,
बुझे हुए इस दीप सलोने में,
स्नेह भरी बाती बन कर,
उन्मुक्त जलो इस जीवन में।

(महान् कारागार जिसमें बंदी के स्वर, उठते-गिरते रह-रह कर)

यह कारागार,
जिसमें जीवन के शत-शत भार,
विकल बनाते हमको,
हे! मुक्त करो तुम, जीवन बंधन।

(राह चलती दु:खिया से पूछा, तो रो बैठी वह बिलख-बिलख कर)

मेरा पथ का क्या पूछोगे,
ठोकर पत्थर का इतिहास कहूँगी,
इन फूलों से क्या होगा,
मेरे पथ पर फूल भी शूल बनते हैं।
मैं भिखारिन चली अकेली,
मेरी कोई रीत नहीं है,
मीत नहीं है, दीप नहीं है,
राह नहीं है, गीत नहीं है।



(मैं वापस आ गया हूँ)
उन स्वप्नों से जाग चुका हूँ,
मेरा अन्तर आज खिला है,
(इन गीतों में)
मेरा जीवन सुन्दर है,
वेदों से मेरा जन्म हुआ है।
प्रतिक्षण अमृत पीता आया हूँ,
काँटों में, फूलों में,
सौ-सौ टक्कर, ठोकर में भी,
हरदम हँसता आया हूँ।
कारागारों की तोड़ शलाका,
मैंने तोड़े जीवन बंधन,
चौरासी के तम को चीर कर,
मैं हँसते-हँसते आया हूँ,
जप, तप, कीर्त्तन, व्रत के बन्धन,
ये सब स्वप्न, कुम-कुम चंदन,
दु:ख के स्वप्न, दु:ख के रोने,
ये ऋतु परिवर्तन।
यह सब मिथ्या।
नदी किनारे के गाने,
यह बन्दी का रोना-धोना
यह विधवा की आह
यह राही।
ये मेरे स्वप्न हैं।
तूफान चलो तुम
वर्षा आतप आते जाओ,
मुझे तुम्हारी परवाह नहीं है,
मैंने तो हँसना सीखा है,
दु:ख में भी हँसना सीखा है।



कर्त्तव्य

योग का उत्तम ज्ञान बताओ,
यह प्रथम उत्तम दान है।

क्योंकि इससे अज्ञान मिटता है,
और सब क्लेश दूर होते हैं।

रोगी को दवा-दारू दो,
यह द्वितीय उत्तम दान है।

भूखे को भोजन दो,
यह तृतीय उत्तम दान है।

तपस्वी का त्योहार

(युग बीते। तपस्वी आग में जलता, शीत में ठिठुरता और वर्षा में भींगता था, उसने शताब्दियाँ तपस्या करते-करते व्यतीत कर दीं। जल पर रहा, पत्तों पर रहा, वायु पर रहा तप करते हुए एक दिन उसकी तपस्या साकार हो उठी, उसके जीवन में नवीन आलोक छिटक पड़ा, उसके जीवन में तपस्या का प्रकाश चमक उठा, तपस्वी तपस्या के साकार होने पर आनन्द विभोर हो उठा, उसके अन्तर से गीतों की गंगा छलक पड़ी, जीवन का अभिषेक हुआ, भस्मीभूत देवताओं का उद्धार हुआ और आनन्द का सागर लहरा उठा)

आज कहाँ से आई हो तुम,
मुझको अपना गीत सुनाने।
जीर्ण-शीर्ण इस संन्यासी की
कुटिया में त्योहार मनाने ॥

स्वर्ण-दीप, नवरत्न-थाल ले,
मुक्ता-मुकुलित माल सजाकर
किस अतीत का शोक बहाने
आई हो तुम तापस के घर।

शीत सहा, और ग्रीष्म सहा,
कितने शिशिर-हेमन्त गये।
कितनी रातें ठिठुर-ठिठुर कर
बीत गईं और माघ गये॥

इस कुटिया के आगे की
कितनी धूनी जली-बुझी।
कितने आँधी-तूफानों में,
इसकी ज्वाला गिरी-उठी॥

यज्ञ हुए कितने इस पर,
कितने काक कुरंग पले।
कितने दु:खियों के जीवन के,
दु:ख जले, दुर्भाग्य टले॥

क्षत-विक्षत इस भगवे ने,
देखा कितने रत्नों को,
कितने मानव आते-जाते,
शीश झुकाते इन वस्त्रों को॥

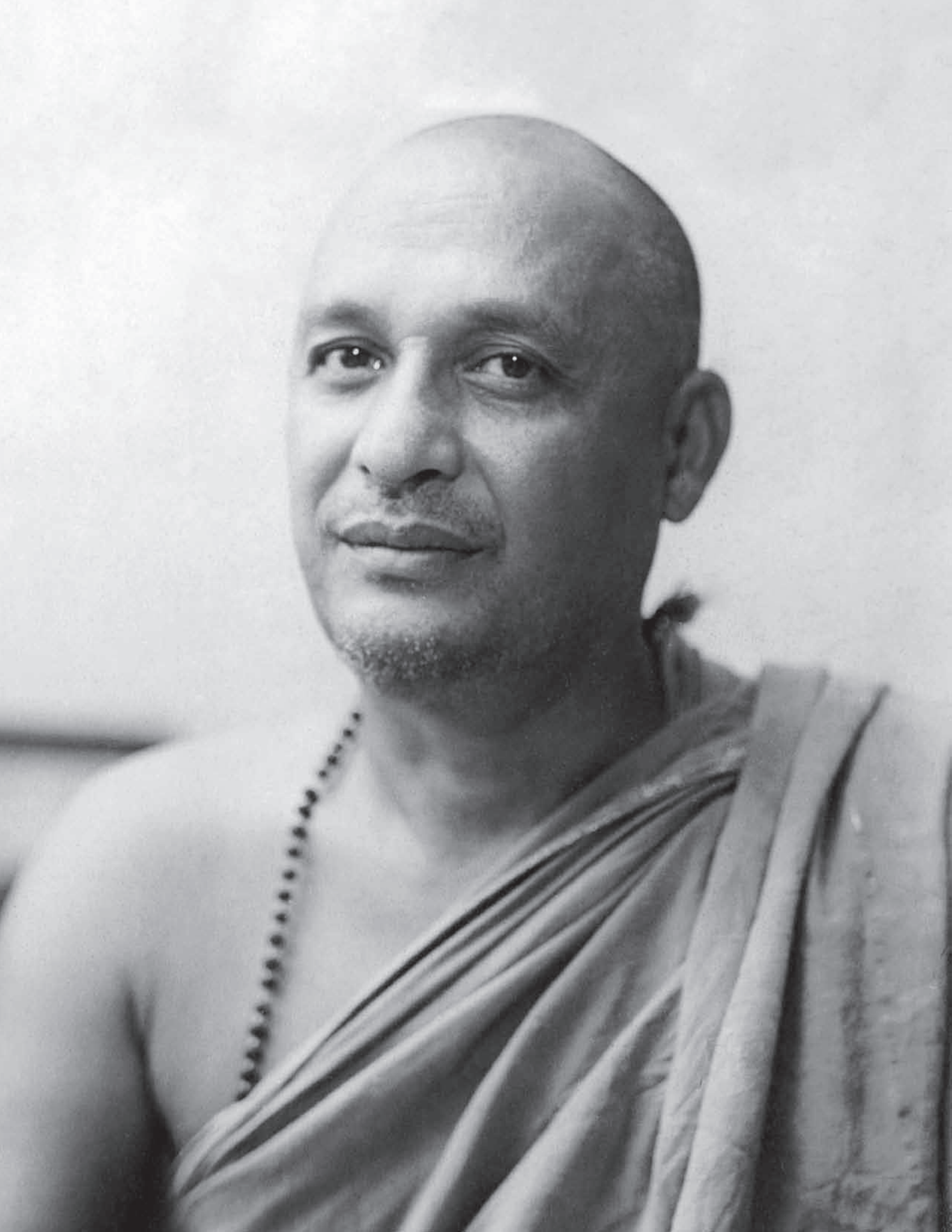
मैं नग्न रहा, जलमग्न रहा,
अग्नि जला, तप संलग्न रहा।
तपती बालू की ढेरी पर,
मैं पंच-तपस्वी मग्न रहा॥

पर्ण लिए, जल-पर्ण लिए,
वायु मिली, जल-वायु मिली।
वायु नहीं तो वायु नहीं,
अब तो ध्यान निमग्न सही॥



वेद पढ़े, सब शास्त्र पढ़े,
न्याय पढ़ा वेदान्त पढ़ा।
तर्क-सुमज्जित बुद्धि बनी,
ज्ञान जगा और ध्यान लगा॥
भूत-प्रेत को निज वश में कर,
मन्त्र-सिद्धि से पूरित था मैं।
भोग मुक्ति को दूर हटा कर,
मुक्त शुद्ध आज बना मैं॥
यह है अम्बर यह है सागर,
इतने पर्वत और शिवालय।
पर सब का मैं शाहंशाह,
मेरे भू पर सृष्टि-प्रलय॥
यह भोग-रोग, यह यज्ञ-याग,
सब को तज कर निर्विवाद।
आज चला हूँ पावन पथ पर,
इसको तज कर, उसको तज कर॥

दीप्त अग्नि, वर्चस्व-समुज्ज्वल,
बन कर भू पर अम्बर पथ पर।
पर आई हो तुम दीपक लेकर,
कुटिया में नव ज्योति जगाने॥
तापस के कट्टर जीवन में,
करुणा की रस धार बहाने।
त्योहार सजेगा जीवन में अब,
तापस-उर में ज्ञान जगेगा॥
कितनों कल्पों की सीमा पर,
आज तपस्वी का साज सजेगा।
आज तपस्या आई हो तुम,
मुझे जगाने, मुझे हँसाने॥
आज तपस्वी तृप्त हुआ,
चलो चलें त्योहार मनाने।
जीर्ण-शीर्ण इस संन्यासी की,
कुटिया में त्योहार मनाने॥



आत्मानुभूति

मैं उन्मुक्त गगन का पंछी,
मैं अजस्र अमृत की धारा,
मैं प्रशान्त समोद सनातन,
मैं खुशियों का दीप्त सितारा,
जा रे क्रन्दन विरह वेदने,
ध्वस्त हुई कष्टों की कारा,
कहाँ रहे अब काँटे पथ पर,
फूलों से पथ गया सँवारा।



चेतावनी

राही सोच समझ कर आना

इस पथ में विश्राम नहीं है,
औ' कुछ भी आराम नहीं है,
जीवन भार उठा कर पंथी बहुत दूर है जाना।।
राही सोच समझ कर आना

ऊँचा नीचा पथ है तम है,
आँधी है तूफ़ान अगम है,
कल्पना का संसार नहीं है, कठिन बहुत बढ़ जाना।।
राही सोच समझ कर आना

फूलों सा कोमल जीवन है,
मधु सा मीठा भोलापन है,
इस जीवन के स्वप्न रंगीले, कठिन उन्हें पा जाना।।
राही सोच समझ कर आना

जप नियम औ' संयम से,
ज्ञान की ज्योति जगाना,
धर्म-कर्म का लिये सहारा, लक्ष्य पर बढ़ते जाना।।
राही सोच समझ कर आना।



मेरे उर का मंथन कर दो

धर्म-कर्म की बने मथानी,
संकल्प-विष्णु हे अचल बनो,
जीवन के दैत्य देवता?
मन-मानस में मन्थन कर दो।
मेरे उर का मन्थन कर दो।
जीवन तुम युगों-युगों तक,
ज्योति तिमिर में साम्य संजोना,
योग-भोग के मंथन से,
सब रत्नों को सन्तत भर दो,
मेरे उर का मंथन कर दो।
विष-अमृत आवें तो भी,
उनका उचित उपयोग करो,
कटुता का विष नहीं निगलना,
न कभी उगलना जग में उसको
मेरे उर का मंथन कर दो।



हटो हटाओ हाटक पंथी

यह बाजारू खेल नहीं है,
उदधि-विलोड़ित मेल नहीं है,
इसका मतलब छिपा पड़ा है,
नहीं चलेगी खट्-पट् पंथी,
हटो हटाओ हाटक पंथी।
यह आकस्मिक मिलन नहीं है,
पानी का पावक से,
कहीं शून्य से नहीं गिरा है,
नहीं निरर्थक ...



शिष्य के प्रति

धीरे बन्धु धीरे-धीरे,
आओ मेरे निर्जन घर में,
नहीं कहीं पथ नहीं उजाला,
भीतर-बाहर काला ही काला,
    युग-युग का है दोष समाया,
    आओ मेरे निर्जन घर में।
चलो अंधकारे तीरे-तीरे,
चलो-चलो तुम दिन और राती,
तूफान बवन्डर पतझड़ आँधी,
तेरा आँचल पकड़ लिया है,
    सत्य जगाओ धीरे-धीरे,
    आओ मेरे निर्जन घर में।



तीर्थ यात्रा के चित्र

यह जीवन एक चित्र है,
किसी चितेरे की तूलिका का जीवन्त चमत्कार
और
ये चित्र हैं इसी चित्रित जीवन के,
इनका चितेरा,
उसका कैमरा
उस महान् विश्व-चित्र की छवियाँ हैं।

जीवन के कलाकार,
अपनी तूलिका से नव जीवन के चित्र बनाओ,
उन चित्रों के स्त्री-पुरुष-बालकों में,
हँसी-खुशी, मुस्कान, मस्ती खिला दो।

चित्र के दीपक,
हमारी तीर्थ यात्रा में झलक जाओ,
अपने सूक्ष्म मानस में
अंध यात्री, तिमिर रात्रि के
तीर्थाटन में चिर उज्ज्वल
और चिर अमर बना दो।

पथ बन्धु,
तुम्हारे चित्रों की गंगोत्री का पथ
अनन्त है,
इसकी उपत्यकाएँ अगम्य।
इसके पंथी कोई-कोई।
हम कब पहुँचेंगे,
बतलाओ

हमने थोड़ा-सा पथ पार कर लिया है,
कुछ उतार-चढ़ाव पार कर लिया है
कुछ घाटियाँ पार कर ली हैं
पर अभी भी यात्रा शेष है।
तुम अपने चित्रों से प्रेरणा दो
और
अपने चरणों की छाया में
हमें तीर्थ करा दो।



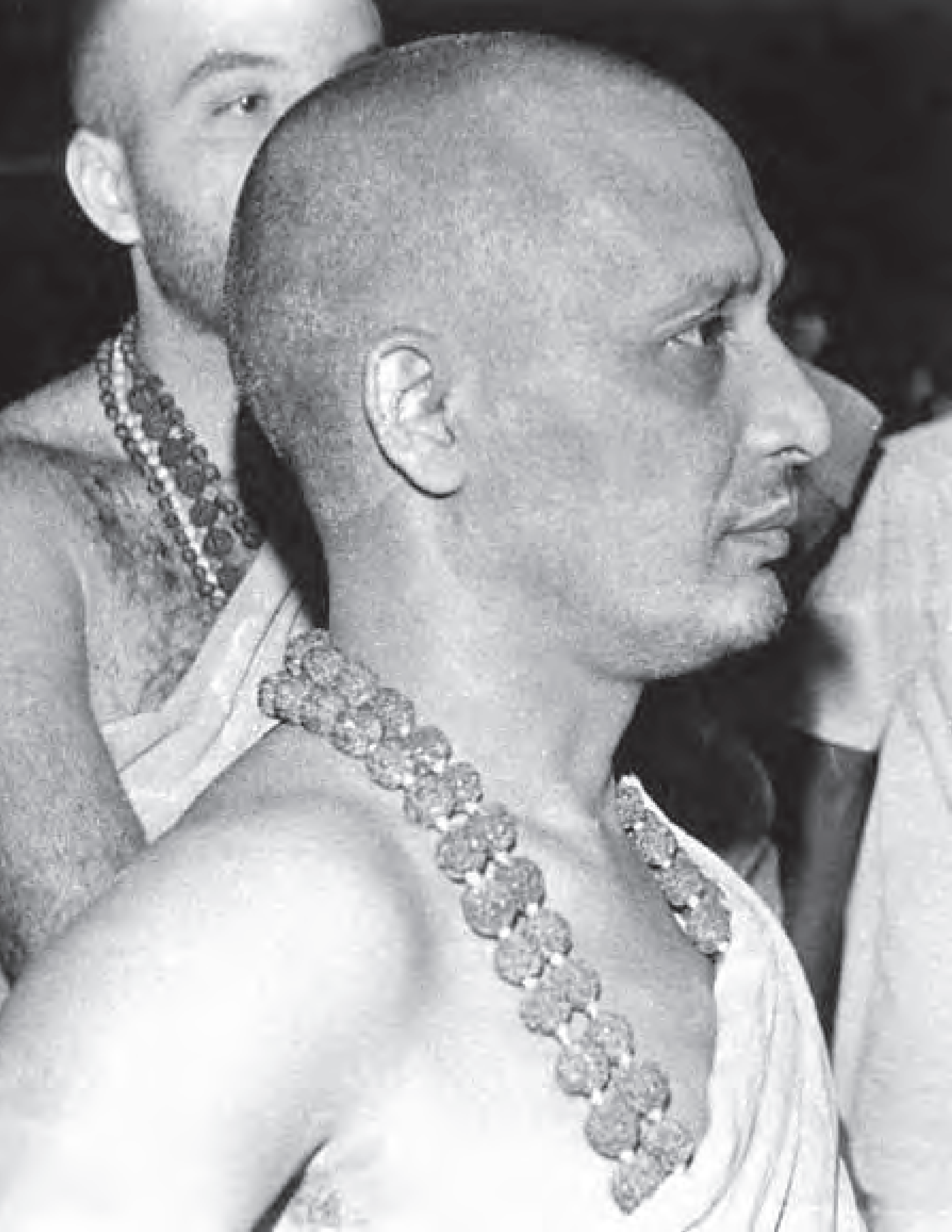
गुरु के चरणों में

हे चैतन्य ज्योति, सदा और सर्वदा ज्योतित रहना। कल्पान्त-निशा में दीप मालिका का नवीन और उल्हासप्रद त्योहार लाना। हम भी सुन्दर-सुन्दर उपहार लेकर, विश्व की स्थली को भरी-पूरी रखेंगे, और विश्व-प्रलय के उत्तर काल में जब आप दिन मणि माली बन कर पूर्व से जागोगे तो हम रविं स्वर्ण-दिवस की प्रभातकालीन दीप मालिकाओं से आप की आरती उतारने के लिए स्निग्ध नयन हो इसी त्रिपथगामिनी के तीर जागृत होवेंगे, आप की ज्योति में अमर ज्योति देखेंगे।



याचना

कोई सुर या तान न जिसमें,
गति लय की पहचान न जिसमें।
उस विशिष्ट श्रोता के प्रति कुछ,
ऐसे गीत मुझे गाने दो॥
नहीं पुष्प या दीप थाल हो,
नहीं मंजु मानिक प्रवाल हो।
आँसू से धोकर अंतस को,
केवल उन्हें मना पाने दो॥
जहाँ नहीं जगती या जीवन,
मानव मानवता का बन्धन।
दीर्घ अवधि के लिये वहाँ से,
मेरा आवाहन आने दो॥
मैं कोई आदान न चाहूँ,
चिर अलभ्य वरदान न चाहूँ।
नयनों पर लाकर उस छवि को,
मेरी पलकें मुँद जाने दो॥



तुम पिता हो

कौन सा सुख शान्ति का,
आगार तुमसे माँगता हूँ।
तुम पिता हो इसलिये मैं,
प्यार, तुमसे माँगता हूँ॥
    तुम छुड़ा कर हाथ मेरे,
    हो सके हो दूर कैसे।
    मैं बना अब तक अकिंचन,
    तुम बने हो क्रूर कैसे॥
मैं तुम्हारे स्नेह का,
अधिकार ही तो माँगता हूँ।
तुम पिता हो इसलिये मैं,
प्यार तुमसे माँगता हूँ॥
    तुम सदय होते नहीं क्यों,
    देख कर दृग नयन मेरे।
    पूछता हूँ हे पिता क्यों,
    हृदय इतने सबल तेरे॥
यह वरद कर का अचल,
आधार ही तो माँगता हूँ।
तुम पिता हो इसलिए मैं,
प्यार तुमसे माँगता हूँ॥
    और क्या पद-रेणुका में,
    लोटने का मोद दे दो।
    तुम मुझे अपना बना कर,
    वह चिरन्तन गोद दे दो॥
दे चुका उद्गार अब,
मनुहार तुमसे माँगता हूँ।
तुम पिता हो इसलिये मैं
प्यार तुमसे माँगता हूँ॥



शिवानन्दोपनिषत्

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे शिवानन्दाय धीमहि तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्।

(शिवानन्दोपनिषत् का मंत्रद्रष्टा ऋषि सत्यानन्द है। महादेव शिवानन्द इसका देवता है। ॐ इसका बीज मंत्र है। महासमाधिमय परम ज्ञान इसका उपदेश है। व्यावहारिक जीवन इसका उपदेश है। परम गुरु की प्राप्ति के लिये इसका विनियोग है। महर्षि सत्यानन्द सिद्ध-शिवानन्द गायत्री इसका उपास्थान है।)

ॐ शान्ति हो, शान्ति हो, शान्ति विभो।
जग की दु:ख अग्नि सुशान्त करो।
मंगलमय शुभमंगल 'हो'
आनन्द-विमल यह जगती तल हो।।
ॐ शान्ति हो, शान्ति हो, शान्ति विभो।।



उपसंहार

कोई उसे लाख भुलाना चाहे, पर वह नहीं भूल पाता है।
वह अव्यक्त कण-कण में, व्यापकता होकर ही आता है।

अमित अथाह विस्मृति गर्भ से स्वर बन वह ही गाता है।
दीवालों में अंकित वह हो, अमर कथा भी सुनाता है।

मरुस्थल में चरण चिह्न बन वह, अज्ञातापार पथ दर्शाता है।
उद्देश्यों की बलिवेदी पर वह, निज-आहुति दे देता है।

सत्य प्रेम को आधार बना, जीवन प्रसाद बनाता है।
जग को एक परिवार बना वह, शासन-अन्त दिखाता है।

उस स्वर्ग की तो बात ही क्या, वह यहीं स्वर्ग बसाता है।
'चैतन्य-ज्योति' बन कर वह, अमर विभा छिटकाता है।



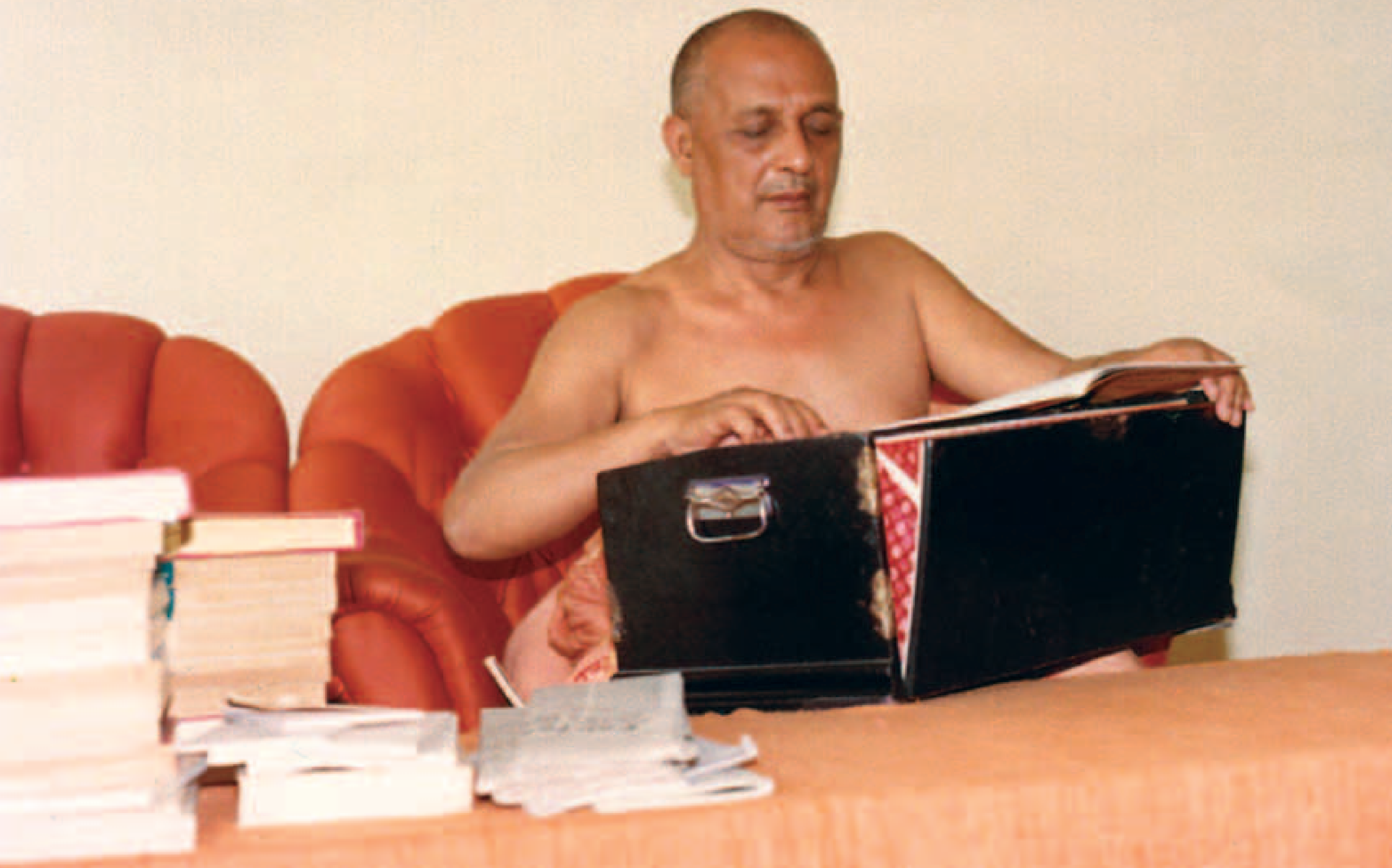
गंगा और हिमालय का संदेश

मैं इस संसार से चिरकाल से प्रेम करता आया हूँ।
इसी से मैंने इसके लीला-विग्रह को देखा है।
इसका रुदन मेरे आँसू, इसका उल्लास मेरा हास्य रहा है।
मैंने परात्पर और विलक्षण सत्ता से कभी मोह नहीं किया
और न ही करूँगा।

पर गंगोत्री की इस यात्रा ने चिर-प्रेम के सपने तोड़ दिये हैं।
उसके लीला-विग्रह के प्रति
अन्तराल में विद्रोह का स्वर छेड़ दिया है।
अब शरीर मात्र यहाँ है
और सारा का सारा व्यक्तित्व मानो वहीं छोड़ कर आया हूँ।

मुझे ऐसा लगता है जैसे पर्वतों, बीहड़-पंथों,
नदियों व सोपानवत् क्षेत्रों में
मैं अकेले चलता जा रहा हूँ,
हाथ में लाठी है, साथ में कोई नहीं,
जितना ही आगे जाता हूँ, निर्जनता उतनी ही प्रिय बन रही है।
हिम-संकुलित अनादि हिमालय में मेरे लिए मार्ग ही मार्ग है,
ऐसी ही बातें अच्छी लग रही हैं।

गंगा के प्रवाह का घनघोर रव,
जीवन के कर्ण-कटु स्वरों को सिर उठाने नहीं दे रहा है।
उत्तुंग शिखरों की ऊँचाई और विशालता
मानव-अहंकार को अपने चरणों में नचा रही है।
क्या यही गंगा और हिमालय का संदेश है?



शिष्य का निवेदन

तुमने पवित्र मंत्रोच्चार के साथ इंगित किया,
लेकिन मेरे बधिर कर्ण
तुम्हारी पुकार सुनने में असमर्थ रहे।
तुम मेरे सामने जाज्वल्यमान परमात्मा स्वरूप थे,
लेकिन मैं अंधता में खाली-खाली देखता रहा।
तुम्हारी अन्तर्वेधी चेतना सुप्त समीरों में
सुगन्ध भर देती है,
लेकिन मेरी लालसा-ग्रसित इंद्रियों ने
उस सुगन्ध को मेरी पहुँच के परे धकेल दिया।
तुमने परम कोष के सब उपहार मेरे लिए प्रस्तुत किये,
पर मैं एक भी नहीं थाम सका,
क्योंकि मेरे ठूँठ हाथों में हथेली की पात्रता न थी।

मैं उस परम पुरुष के संघर्ष को देखता हूँ,
जिसकी जड़ें कीच में गड़ी हैं।

पानी की सतह से ऊपर उठकर
सूरज की किरणों में उसके नहाने का प्रयास
निरन्तर चलता रहता है।

कितना चाहता हूँ, बाह्य कीच से
आन्तरिक सूर्य तक उठ जाना,
प्रकाश में जी भर नहाना,
अज्ञान और भ्रम के स्वप्न से मैं मुक्त हो लूँ।
इसकी प्रतीक्षा तुम कब तक करोगे?
कब तक तुम राह देखोगे कि
हम उन पाँवों पर खड़े हो जायें,
जिनमें विश्व चेतना की, दिव्य जागृति की,
मूक प्रतिध्वनि पदचाप बनकर
समा जाय?

जीवन की गति वर्षा से भरी हुई गंगा की तरह है।
पूँछ विहीन मछलियों की तरह हमारा तैरना
तुम जल के परे हटकर देख रहे हो।
क्या हममें फेनिल शक्तियों को सहने की शक्ति है?
क्या हम अहं के प्रलोभन, तीन गुणों,
माया के आवरण और संस्कारों के दैत्य से
बली सिद्ध हो सकेंगे?
क्या हम त्रिकाल के पार देख सकेंगे
क्या हम वेगवती धारा के विरुद्ध तैरते हुए
अविद्या के ऐसे तट पर पहुँचेंगे,
जो स्वयं डूब रहा है, अस्थिर है?
पर हम अंध विवश से सहारे के लिए
उसे ही पकड़े रहेंगे।
कितना आसान है धारा के साथ
अपने को छोड़ देना,
अपने को परम सत्ता के समुद्र में विलीन कर देना।
आपकी कृपा ने हमारे हाथों में गुरु सूत्र थमा दिया है।



यह सूत्र संदेह की कटार से नहीं कटता,
भय की आग भी इसे जला नहीं पाती।
मैं इसे आयु पर्यन्त अपने से विलग न करूँगा।
जब तक मेरे अनिनादित कानों में
मूक मंत्रों की स्वर माधुरी न भर जाती,
जब तक मेरी रसहीन रसना स्वादेतर अमृत का
रसास्वाद न कर लेती।
जब तक मेरे मुँदे नयन दिव्य रूपारूप आभा मण्डित
चेतना के सहस्र मुख नहीं देख पाते।
जब तक मृत्यु, जन्म तथा तुम
जैसे शब्दों की परिभाषा के मृग जाल से परे एक नहीं हो जाते।
तब तक मैं इस सूत्र को अपने से विलग न करूँगा,
क्योंकि तुमने इसे दिव्य चेतना के करघे पर
स्वयं अपने हाथों से बुना है।

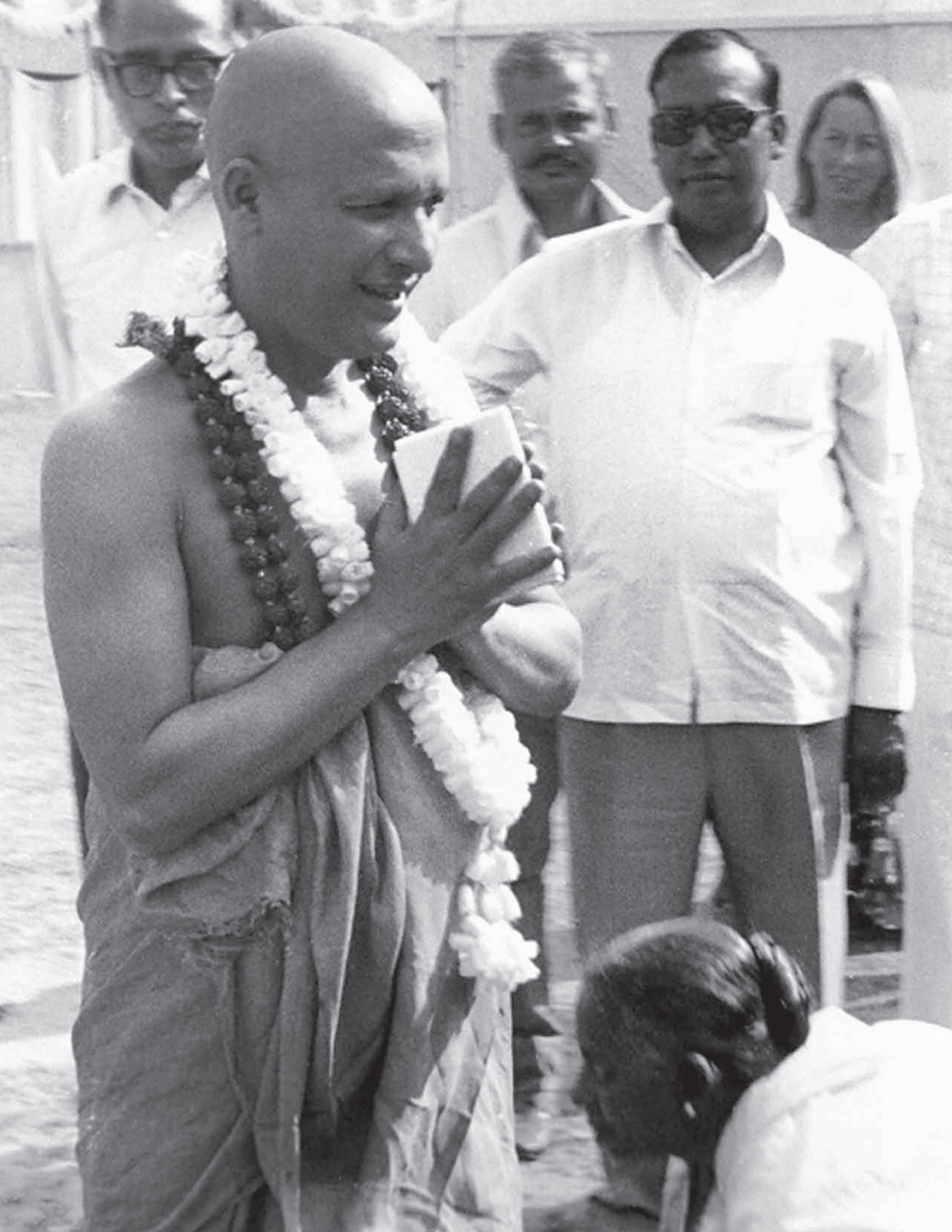
अब मैं तुम्हारे चरण कमल पर
भिक्षु की तरह नत हूँ,
और तुम्हारे सम्मुख मृतिका-भिक्षा-पात्र रख रहा हूँ।
मैं उस पथ प्रदर्शिका तथा आन्तरिक शक्ति की
भीख माँगता हूँ,
जिससे इस पात्र की दरारों को पाट कर
इसे परिपक्व बना सकूँ,
जिससे यह एक दिन तुम्हारा प्रसाद-वाहक बन सके।
यही प्रसाद अकालग्रस्त बुभुक्षुओं की
क्षुधा मिटा देगा।
जिस तरह रेशमी रस में तैरता भ्रूण
जन्म की प्रतीक्षा करता है,
उसी तरह विश्व जननी के गर्भ में
माया के जल-तल पर डूबती-उतराती आत्मा
पुनर्जन्म की राह देखती है।
तुम्हारे द्वारा
शिष्यवत्...



साधक का आह्वान

हे साधक!
चिर उज्ज्वल माना तेरा जीवन।
योग ध्यान से
माना कि तू धन्य हुआ है।
पर
यह तो बतला
चिर पीड़ित जग में
तप्त धरा पर,
कितनों के गिरते भाग्य चक्र पर,
तूने अपना ध्यान दिया है।
अपने जप विधान से
कितनों के दु:ख को
गिन-गिन कर
भस्म किया है।

तो फिर उठ
हे साधक!
उठा अपनी साधना
युग-युग से जो भू-लुण्ठित है।
अन्ध गुफा से आ जा बाहर।
देख तो
जगत् कहाँ पर है खड़ा
और
तू अब तक रहा कहाँ



पच्चीस-दीप

अमर किरण की पावन रेखा,
जग हिंसा को जगती देखा।
टीस उठी तब प्रकट हिमाली,
वह तुम हो प्रभु, पावन छविमय ॥1॥

कर्म भूमि में विंध्य पार तुम,
एक ग्राम के हार बने तुम।
ताम्र नदी के सुधा धार तुम,
सत्य रूप जय ज्योति विमल जय ॥2॥

ज्ञानामृत यदि बरसाते हो,
तो जीवन गीता गाते हो।
हेम दीप में तुम आते हो,
निर्भय जय जन अभिनव जय ॥3॥

स्वर्णिम जीवन के हो माली,
बाल गगन में स्वर्णिम लाली।
शिशिर दिशा के अरे हिमाली,
दूर युगों के तरुवर जय-जय ॥4॥

कभी कहीं प्रभु तुम आये थे,
शाक्य वंश मुनि बन छाये थे॥
दूर कहीं तुम ईश कहाए,
शंकर जीवन जागति जय-जय ॥5॥

दिव्य ज्ञान के चन्द्र दिवाकर
पुण्य धरा के मधुर अधर।
सप्तदीप नवखंड निनादित,
प्राण प्रतिष्ठित शंकर जय-जय ॥6॥

विश्वनाथ हो विश्वनाथ तुम,
अनाथ विश्व के स्वामी नाथ तुम।
दीन विश्व के दीनानाथ तुम।
सेवा तन्मय जय हे चिन्मय ॥7॥

जीवन सौरभ दिव्य सुमन हे,
सत्य शान्ति औ' सुख उपवन के।
बिखर वायु में, मन्द मलय में,
करना स्वर्णिम किसलय मधुमय ॥8॥

कहो-कहो हे ज्ञान विधाता,
आर्य प्रतिष्ठा भारत त्राता।
वीर प्रसु सुत भारती जीवन,
दिव्य शक्ति हे विजय जय ॥9॥

व्यापक हो तुम हर अंचल में,
तरुवर तृण में औ' व्रण-व्रण में।
सत्यानृत के भीषण रण में,
करते हो तुम घोष विजय ॥10॥

हरित भूमि से सरिता जल में,
अम्बर पट में सागर तल में।
एक रूप, धर, रूप अनेक,
सब में व्यापक स्वामी जय जय ॥11॥

प्रकृति नटी जब नर्तन करती,
केवल तुममें व्यापक रहती।
तरुवर लतिका उर बंधन में,
सौम्य सुखद हे! पावन जय जय ॥12॥



चंद्रावलि में छिटक रहे हो,
तारागण में नाच रहे हो,
नील गगन में चमक रहे हो,
तुम यामिनि पथ में ज्योतिर्मय ॥13॥

प्रांगण में जब संध्या आती,
गगन मार्ग में नेत्र बिछाती।
उसी मार्ग से प्रभुवर आते,
मानो संध्या में अरुणोदय ॥14॥

यामिनि उर में शशि भी आते,
केवल तेरा रूप निरखते।
ज्ञान ज्योति में भूल तभी वे,
अपने पथ में होते तन्मय ॥15॥

मंद मलय का मधुमय चुम्बन,
थकित निशा में करता कम्पन।
प्रणव शब्द प्रभु तभी जगाते,
अखिला को कर नव सुषमामय ॥16॥

बालारुण की प्रथम किरण जब,
आती जग में ठिठक पड़ी तब।
पुरुष पुरातन अमर अचल तुम,
मानो संयम जीवन छविमय ॥17॥

कोकिल हो आनन्द विपिन के,
आनन्द विजय तुम गाते हो।
ज्ञान सुसंचय पावन स्वर्णिम,
तुम सत्य विजय औ' ज्ञान विजय ॥18॥

आज प्रभो मृदु तेरी वाणी,
दूर-दूर में सुनते प्राणी।
प्रति मुख से है गुंजित केवल,
होवे तेरी शुभ पूर्ण विजय ॥19॥

क्या गा रहे तुम एक गाना,
क्या 'ज्ञान' वीणा का तराना।
कर रहे क्या इस पार अब हो,
रजत शिखर को नव ज्योतिर्मय ॥20॥

अमर विजय के रजत कलश हे,
अंचल जागृत सुधा सरस हे।
अम्बर पट में बरस पड़ो हे,
जन-जन जाग्रत जीवन जय-जय ॥21॥

पच्चीस शिखर के पार अरे,
उस उपत्यका पर दीप जगे,
'रजत दिवाली' मना रही है,
तेरी सुस्मित औ 'मधुर विजय' ॥22॥

रजत दीप हे अमर रहो तुम,
'स्वर्णिम पथ पर' अभय चलो तुम।
निशि औ दिन में ज्योतिर्मय हो,
बनो अभय औ करो विजय ॥23॥

पच्चीस शिखर का तेरा अंचल,
रजत-दीप में चमके प्रतिपल।
अनन्त क्षितिज तक गाये अविचल,
स्वामी जय हो, सुगम योग जय ॥24॥

कर्मवीर हम आज मनाते,
'संन्यास हिमाला' आज जगाते।
दीपक हे! काषायरश्मि हे!
स्वर्णिम बनना, रवि औ' शशिमय ॥25॥



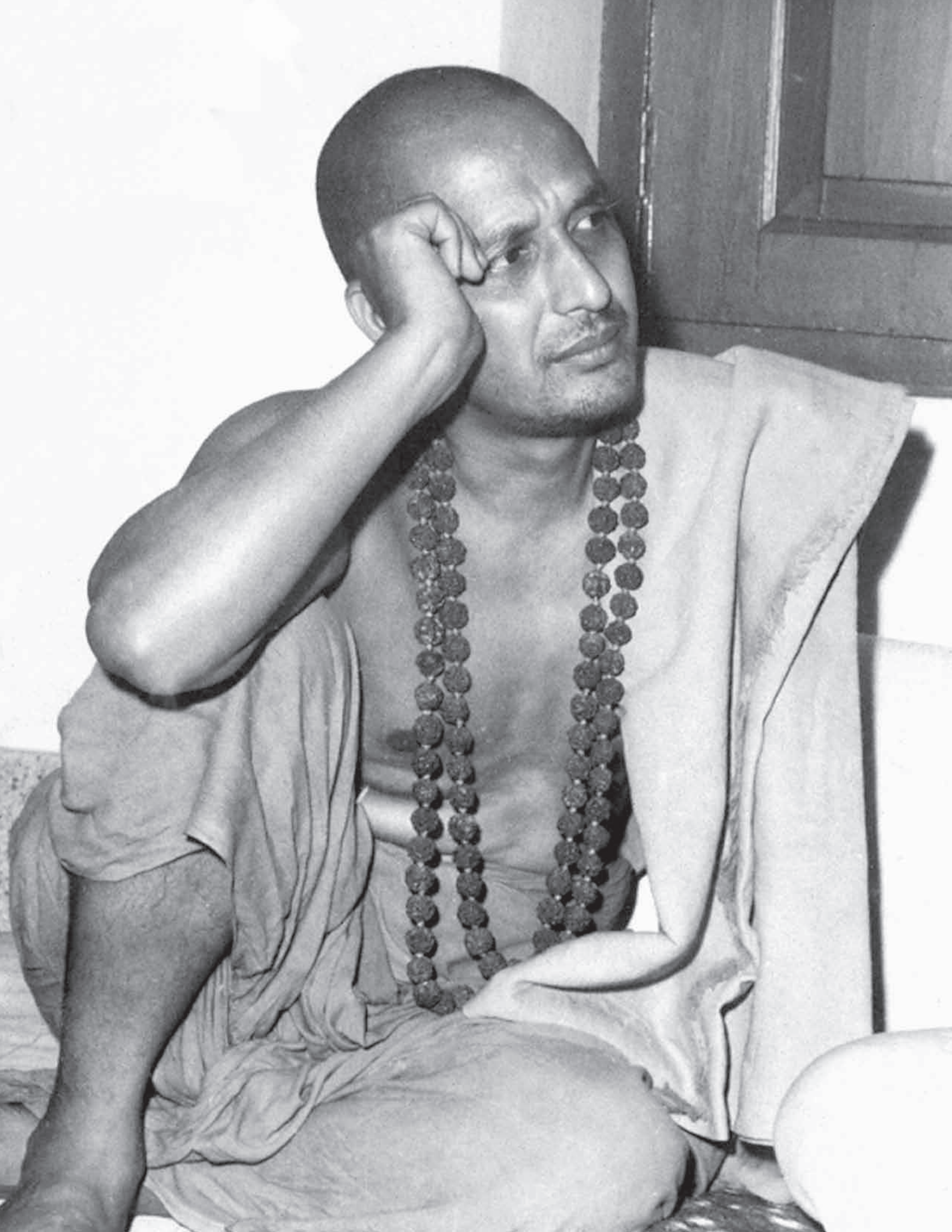
समर्पण की बेला

बीत न जाये कहीं अचानक,
यह पूजा की पूरन मासी,
सागर बाँध मगर सागर के,
विह्वल द्वार खुले रहने दे।

एक बार ही तो आती यह,
प्रिय प्रेमार्चन की बेला है,
जाकर लौट नहीं पाती जो,
यह आकर्षण की बेला है।

जन्म-जन्म की साध समेटे –
मुझको अर्पित हो जाने दे,
सम्भव है तुम नहीं जानते,
आज समर्पण की बेला है।

युग-युग का इतिहास अधूरा,
पल भर में पूरा हो जाये,
सत्य बाँध, लेकिन सपनों के
कुछ आधार खुले रहने दे।



शंकर सुखकर सत्यंकर

शंकर, सुखकर आयु सदा, दे दो नित नव, नित उज्ज्वल।
योग शक्ति माँ, गौरी सुत का, कर दो मुखरित चिर-मंगल।

जिससे रश्मिल योगीराज हे, तेरा शुभ संकल्प मनोबल।
इस अस्सी की असिधारा पर, इन्द्र बज्र सा शुभ्र तपोबल॥

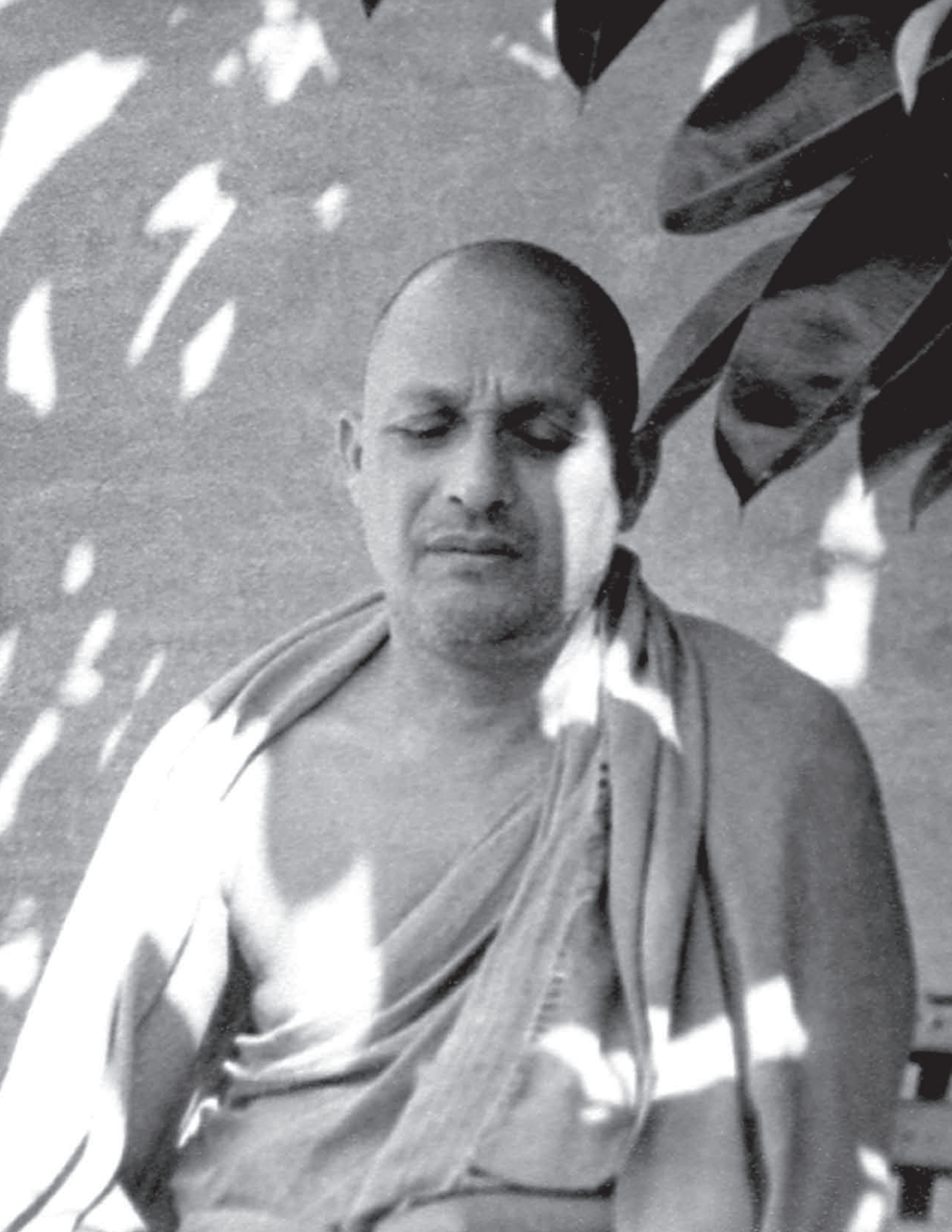
इस जीवन के वन-उपवन में, तब तापस सौंदर्य अमर।
तू झुका धरा पर, उड़ा गगन में, तू मातृशक्ति का वेद मुखर॥

हे जीवन तुम झरो धरा पर, भरो सुघरतम प्राणों के स्वर।
गौरव-गरिमा गौरीसुत की, चिर उन्नत, चिर-मुक्त सुधर॥

चिर-पावन जग मातृ-चरण की, ले भव भंजन रेणु उदार।
विजय-कुसुम में वह सौरभ भर, सत्यम् शत-शत भरता हार॥

स्वर्ग-चेतना के अंतरतम से गंगा की छवि धारा में।
शिव पद-पावन ज्ञान-कुण्ड से, उठती आहुति होम धरा में॥

कहती वह तुम जीओ प्रतिपल, याग-योग के भाल अटल।
तन्त्र-शक्ति के सत्य सरल, कवि-मनीषी निर्बन्ध अचल॥



आरण्य विश्वविद्यालय

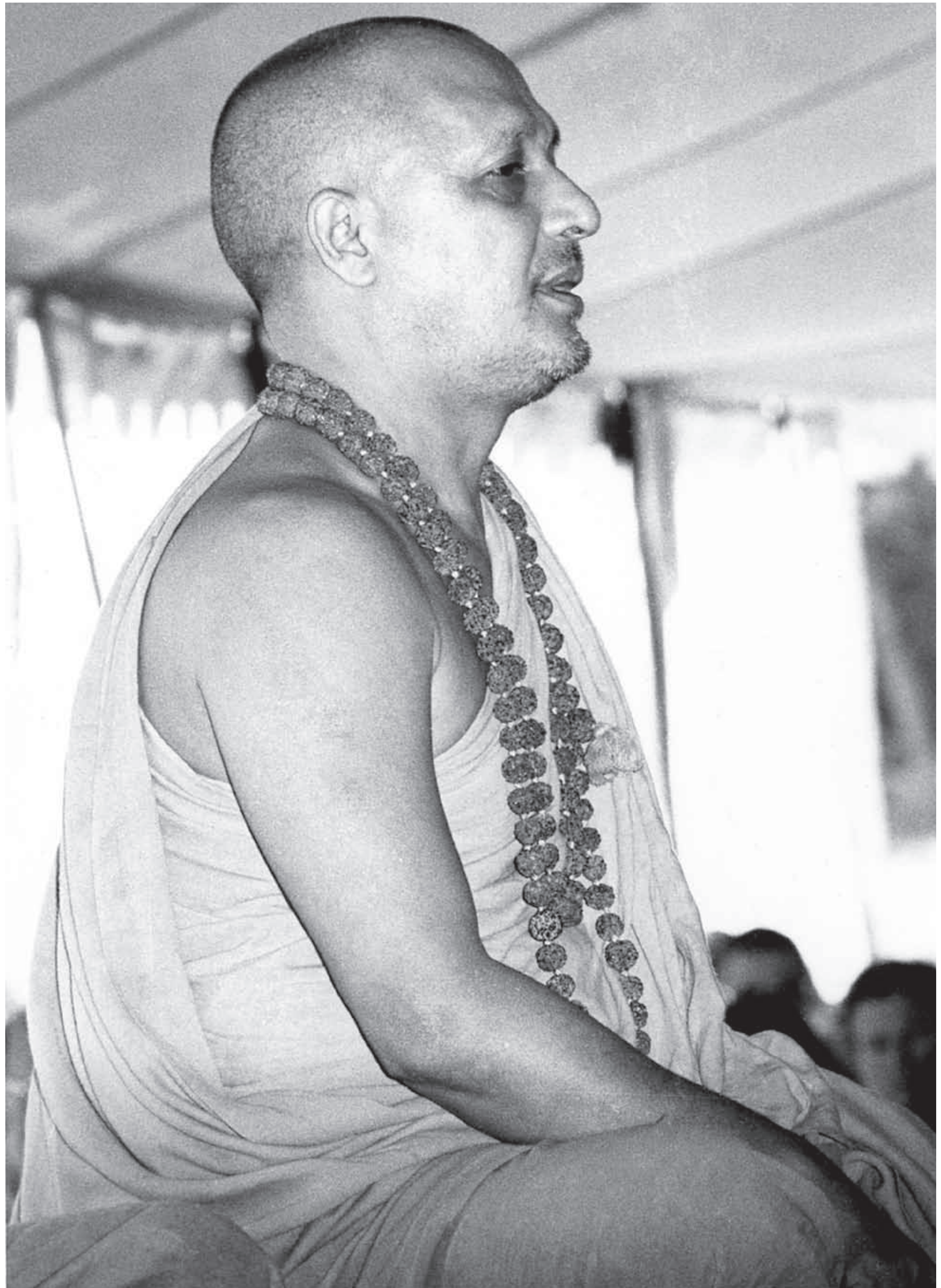
निर्लिप्त गगन के नीचे,
नीरव वन के अंकिम में,
सरिता के तीर और
स्वच्छन्द भू-पर्यंक पर –
ऋषिकुलों, आश्रमों और तपोवनों में
भारती धर्म, ईश्वर दर्शन और आत्मज्ञान
का सूर्योदय हुआ।
वहाँ मनुष्य ने देवत्व को
अपने हाथों से सजाया, और
उसका नाम कर दिया –
आत्मा, सत्यम्, ब्रह्म
और सच्चिदानन्द।

यहाँ से गया है कोटि कणक
जनता का पथ–पूर्णत्व की ओर
जिस पर गये हैं, बुद्ध, कबीर,
तुलसी, सूर और अनेक महावीर,
ऋषि, मुनि, यतिगण, तापस, युग-धीर॥



संन्यासी

संसार में शिष्य दो प्रकार के होते हैं –
एक तो वीतरागी संन्यासी,
और दूसरे – साधारण गृहस्थ।
वे जो संन्यासी हैं,
उन्होंने सांसारिक जीवन से नाता तोड़ लिया है।
गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण ही
शिष्य बनने का रास्ता है।
जब शिष्य अनुशासित होते हैं
तभी उन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है।
इसके अतिरिक्त न तो सिद्धियाँ,
न वेद-पुराणों का ज्ञान
और न ही योग क्रियाओं का ज्ञान
व्यक्ति को शिष्य बना सकता है।
मात्र आनन्द ही उसे सच्चा शिष्य बना सकता है।
इसी कारण संन्यासियों के नाम के अन्त में
आनन्द लगा होता है।



बन्धन

कर्मयोगी के लिए कामना बंधन नहीं,
बंधन तो आसक्ति है,
अविद्या है।
आसक्ति अपने यश के प्रति हो,
त्याग के प्रति हो,
भगवत् भक्ति के प्रति हो,
या स्वयं ब्रह्म के प्रति हो,
वह आसक्ति है और बन्धन का कारण भी।
हथकड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की,
बाँधने का काम एक सा करेगी।
अनासक्त भाव से कर्म करने वाला मनुष्य
कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है।
दु:ख सुख भोग कर भी अभोक्ता रहता है।



सर्वस्व-समर्पण

मेरे पास अलबम है एक पुराना,
जिसमें सैकड़ों चित्र अंकित हैं
वे हैं मेरे जीवन के स्वप्नों के।
मैं इसे रख देना चाहता हूँ तुम्हारे पास।
इस लम्बे सफर में इस अलबम का बोझ मैं ढो नहीं सकता।
बहुत भारी है मेरा अलबम।
इसे मैंने तुम्हें दे दिया है –
तुम इससे जो भी चाहो करो।
मुझे इसे ढोना मंजूर नहीं है।



आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति

नहीं पुत्र के लिए पुत्र की प्रियता सच है,
नहीं वित्त के लिए वित्त होता है प्रिय रे ...
नहीं कामिनी की प्रियता का हेतु कामिनी,
नहीं सुता के लिए सुता होती है प्रिय रे...
आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति ॥

नहीं क्षत्र के लिए क्षत्र ही होती प्रियता
नहीं विप्र के लिए विप्र ही प्रिय होता है...
नहीं लोक के लिए लोक-तृष्णा है जन की
नहीं देव के लिए देव ही प्रिय होता है...
आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति ॥

अपनी प्रियता के कारण है प्रिय जगतीतल
सबकी प्रियता का उद्‌गम है आत्मा केवल...
अपनी लिप्सा के कारण है प्रिय जगतीतल,
सबकी लिप्सा का कारण है आत्मा केवल...
आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति ॥



श्रान्त पथिक

1

मैं पीछे था,
भाग रहा था जीवन आगे।
मैं हाँफ रहा था,
वह दौड़ रहा था,
मुझे पकड़ने।
मेरे पीछे
दौड़े-दौड़े
तीव्र वेग से
आते थे वे।
कभी-कभी मैं
रह जाता था
पीछे, तो वे
बाँह पकड़ कर
ठहरा लेते
मुझ निर्बल को।
इसी बीच में
इसी पकड़ में
बढ़ जाता था
जीवन आगे
दृष्टि ओट से ओझल।

2

आज युगों से
खेल यही
दौड़ यही
भाग यही
पकड़ यही।
मैं बेचारा,
बैठा हारा,
जीवन मुझसे,
सदा अकेला।
अब शक्ति नहीं,
वह भक्ति नहीं,
अनुरक्ति नहीं।
पाँवों में वह वेग नहीं।
हाथों में वह जोश नहीं।
आज मौत की घाटी पर –
तीखे तपते और विचलते
महा भयंकर
कूलों पर,
मैं एकाकी
बैठ गया हूँ।

गुरु पंचकम्

गंगा तटस्थं चिरयोगी राजं योगे रमन्तं शुचि शान्त मूर्तिम् ।
आनन्द संस्थं विपिने वसन्तं काषाय वन्तं सततं नमामि ॥1॥

ज्ञाने विशालं क्षिति देह भालं पूर्णाभिरामं परिपूर्ण कामम् ।
योगी शिवानन्दमनन्त रूपं कैवल्य वासं सततं नमामि ॥2॥

अज्ञान मोहाम्बुधि घोर दुःखं निमग्नं जीवोरवलम्ब भूतम् ।
सत्यं प्रकाशाय तनोति शुद्धिं प्रज्ञा धनं तं सततं नमामि ॥3॥

कल्याण हेतुं कृत धर्म सेतुं श्री विश्वनाथस्य कृत प्रतिष्ठाम् ।
धर्मावतारं विमल प्रकाशं विश्वस्य भासं सततं नमामि ॥4॥

वेदान्त घोषं स्वानुभूत तत्त्वं संन्यासिवर्यं! गुण वृद्धि हारम् ।
सत्यस्य सत्यं सुख सिन्धु सिन्धुं सारस्य सारं सततं नमामि ॥5॥

य इदं गुरु पंचकं पठेद् हृदय-ग्रन्थिमिदं सदा मुदा।
अपवर्ग वाट वेधनं स हि धन्योऽमृतमश्नुते परम् ॥6॥







प्रबोधन

क्या जाने कब रुक जायेगी यह श्वासों की यन्त्री मन्थर।
क्या जाने उड़ जाए कब, खुलते ही यह पिंजर जर्जर॥

क्या जाने सूत्र निकलते ही बिखरेंगे स्रग के सुमन-सुमन।
इसलिए सौम्य मन, धर ले उनके चरणों का दृढ़ आलम्बन॥

क्या जाने वह क्षण आए निस्नेह बने यह दीप सुधर,
क्या जाने कुण्ठित हो जाए कलित कण्ठगत काव्य मधुर,

क्या जाने कब यह अग्निशिखा कर देगी भस्मसात् कानन् ,
इसलिए सौम्य मन, धर ले उनके चरणों का दृढ़ आलम्बन॥

क्या जाने वातूल चले जलयान जलधि में डोल उठे,
क्या जाने बेसुध बना प्राण का पंथी 'हा-हा' बोल उठे,

फिर कहाँ राग? फिर कहाँ रंग? कैसी क्रीड़ा? कैसा प्रांगण?
इसलिए सौम्य मन, धर ले उनके चरणों का दृढ़ आलम्बन॥



चेतना का उन्नयन

पीढ़ी-दर-पीढ़ी कहती आ रही है,
संतों की वाणी में भी एक ही पुकार
विरुदावली चारण की सुनाती आ रही है
कि जिसने जीवन का समुचित उपयोग करके
आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है,
बनेगा निमित्त वही, सत्य बीज को उपजाने में।

वह धान बिन्दु की उत्पन्न, यही आद्य बीज
मूलाधार के पृथ्वी-तत्त्व में मूल उसका
स्वाधिष्ठान के जल में विकसित होता,
मणिपूर के धधकते सूर्य में प्रौढ़ होता,
विशुद्धि की शुद्ध वायु द्वारा सशक्त होता।
इस उपज को पीसता ज्ञानी
तप और सेवा के पत्थरों के बीच।
संचयन करता अविचलित दृश्यों का,
गूँधता अन्तर्ज्ञान के अमृत के साथ,
त्याग की अग्नि पर सेंकता इस यज्ञीय रोटी को।
बाँधता आत्मा को ब्रह्माण्ड की शक्तियों से।
सन्त बाँटता इस योग को योग्य पात्रों को
उनके द्वारा पहुँचता योग जन-समूह को।

ईसाइयों की सहभागिता, मुसलमानों का आतिथ्य-सत्कार,
बौद्ध भिक्षुओं की भिक्षा, शिव का प्रसाद।
योग जीवन की रोटी है,
तोड़ते इस मानव चेतना के उन्नयन के लिए,
इसे चखने से बदल जाते
सब भोजन एक त्योहार में,
जीवन की उद्भवित चेतना के पर्व में।



मेरा मानव मान रहा है

कहते-कहते हार गया था,
हार गया था रोते-रोते,
पर आज सबेरे से ही,
मेरा मानव मान रहा है।

कल तक इसका मतवालापन,
मुझको खाये देता था,
बीत गई है रजनी कल की,
मेरा मानव मान रहा है।

मेरा श्रम हार चुका था,
मेरा साहस सहम रहा था,
अब नींद खुली तो देखा क्या,
मेरा मानव मान रहा है।

परसों इसने पाप किये थे।
कल इस पर मार पड़ी थी,
रोने-धोने पछताने से
मेरा मानव मान रहा है।

प्रेम दिया मनुहार किया था,
अगणित मोती के उपहार दिये थे,
पर मारे-पीटे जाने से ही,
मेरा मानव मान रहा है।

यह मानव वन मानुष है,
प्रेम नेम से नहीं सुधरता,
मारे-पीटे-लूटे जाने से,
मेरा मानव मान रहा है।

दुनिया के बाजारों में,
जब से इस पर घूसे पड़ते,
जब से इसकी उतरी इज्जत,
तब से ही यह मान रहा है।

पापों का कल बीत चुका है।
पश्चातापों की राका भी,
ज्ञान-बूझ की ऊषा से ही,
मेरा मानव मान रहा है।



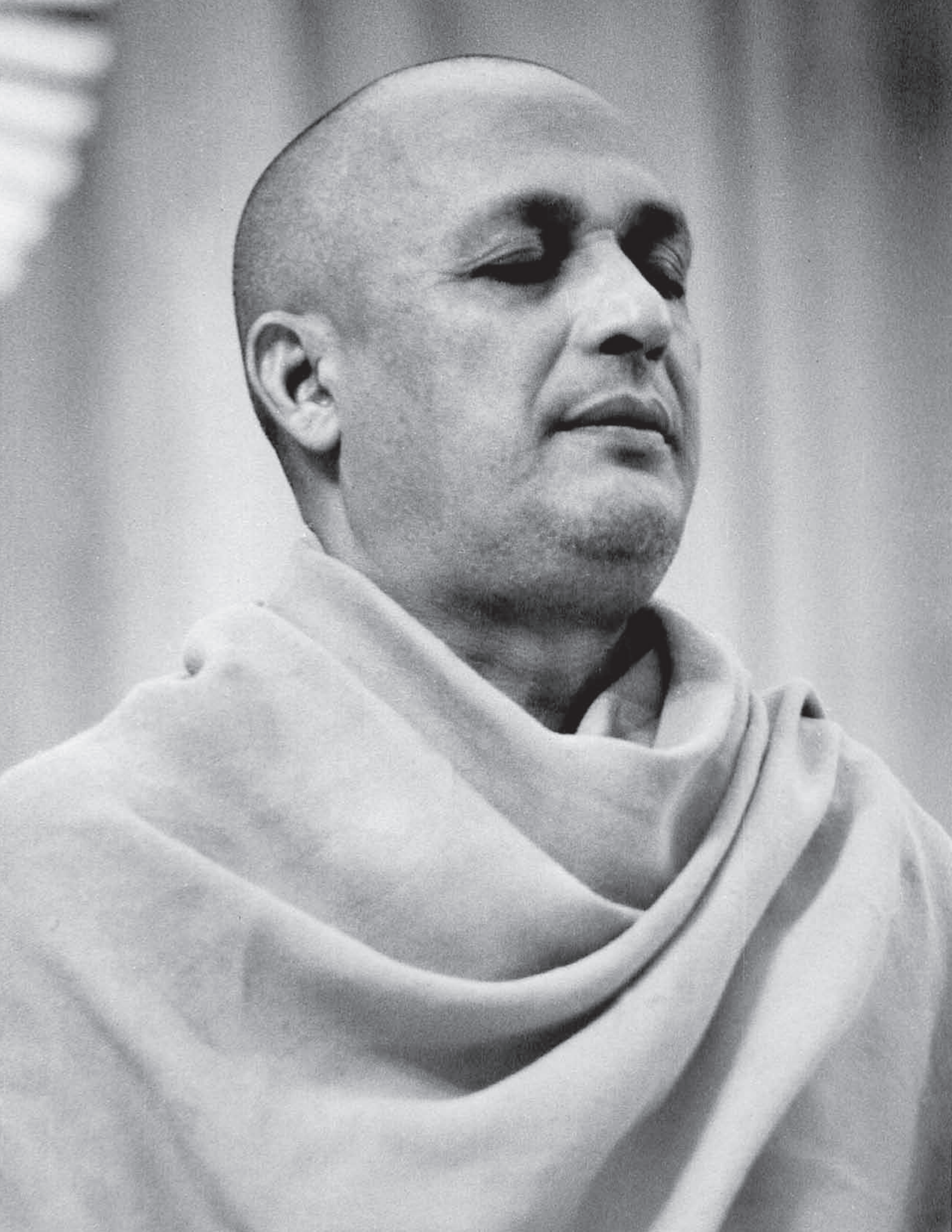
तुम ही सर्वस्व

चिरन्तन जीवन के
कुछ क्षण ऐसे
जिसमें बहती नदिया की धार
और तरंगों में चित्र अनेक।
किन्तु आये तुम तूफानों के संग
और मिटा दिया उन चित्रों को,
लहरों की बनावटी माया को।

काली रात में
मेरा दीपक छोटा सा
टिमटिमाता जुगनू सा
बुझ गया सहसा
उन पवन झकोरों से
जो प्रभात की बेला में
विश्वमाली की पहली
किरण की अगवानी में आई थी।

कितनों से प्यार किया मैंने।
सौ-सौ अभिशाप लिये मैंने,
उन सबको लेकर
प्रभु सबको लेकर
तुम्हें चढ़ाने आया हूँ।
कितने ही प्रहार करूँ प्रिय,
दिल से तुम्हें घृणा करूँ,
दुत्कारूँ, थूकूँ, अपमान करूँ
फिर भी क्या तुम छोड़ोगे कहना,
मैं करता हूँ तुमसे प्यार
क्योंकि तुमने अपने को चढ़ा दिया
फूल बना
प्यार के मन्दिर के मण्डप पर।

हँसता कौन?
मैं नहीं, तुम।
रोता कौन?
मैं नहीं, तुम।
लिखता कौन?
मैं नहीं, तुम।
सोते तुम, सब तुम।
मैं तेरा चाकर हूँ।



वर्तमान का बोध

उत्स क्या है?
कहाँ है इसका अन्त?
और मेरा पथ कहाँ है?
सतत् गतिशील, अविरल चाह,
औत्सुक्य, भटकाव, पत्रविलोकन और खोज –
धूमिल प्रात धीरे-धीरे चटकता है।
मेरे सामने मार्ग खुला है,
मैं पीछे मुड़ कर नहीं देख सकता,
क्योंकि सूरज मुझे आगे खींच रहा है।
मेरे पग मुझसे क्षुब्ध हैं।

समय को धैर्य नहीं है,
वर्तमान प्रकाश प्रतिक्षण वर्द्धनशील है,
विगत के विचार और भविष्य की आशायें
कहीं दूर धुँधलाती जा रही हैं,
लेकिन केन्द्र की चमक देदीप्यमान है।
लहरें ऊँची उठ रही हैं,
भावनाओं की अनुभूति नहीं है,
मात्र है वर्तमान का बोध
और अपनी सत्ता की निष्पन्दता।



मुझको वैसा ही रहने दो

नहीं, नहीं –
नहीं माँगू प्यार तुम्हारा।
छोड़ो मेरा हाथ, छोड़ो जल्दी।
बोलो मत, नहीं सुनूँगा आलाप तुम्हारा।
तुम कहते हो – मैं पागल हूँ?
मेरी कोई शर्त नहीं,
जीवन में रहने की कोई भक्ति नहीं,
प्यारों, मनुहारों, उपहारों का अर्थ नहीं,
निद्रा, स्वप्न, क्रीड़ा का कोई तथ्य नहीं।
मैं उस जीवन में था, अच्छा था।
घर के आंगन में बैठा-बैठा
सोता था, अलसाता था, मुस्काता था,
पकवान बनाता, खाता था,
जीवन के मनहर सपने
धूमिल मन से लखता था,
मित्रों की टोली में इठलाकर,
हँसी-खुशी से रहता था।
यह क्या?
आया पास तुम्हारे
जीवन लेकर,
दे देने, खो जाने,
पर डर लगता है, तुमसे।

खो जाने का भय लगता है
तुम्हारी मूरत में।
मेरी सूरत के
मिट जाने से,
मैं नहीं रहूँगा।
ऐसा डर लगता है।
हठ है मेरा अब,
नहीं, नहीं...
छोड़ो मुझको,
रहने दो वैसे ही,
जैसे मैं पहले था।



जीवन के अनुभव

हमने
प्याला
नहीं पिया।
कभी नहीं,

पर
होश नहीं।

चिथड़ों में
देखी
शाहंशाही।

पूछो मत
किताबों के नाम।
इंजील,
पुराण,
कुरान।
हम इसमें चौपट।
हाँ,
जीवन देखा है,
अनुभव पाया है।

खण्डहर
मेरे घर,
जैसे
रत्नाकर।

मेरे दिल में
फैले

सात समन्दर,
विचरते
चन्द्र दिवाकर।


डल

मुझे क्षितिज के पार जाने दो

जीवन को चलने दो, जैसा चलता है, चलना चाहता है।
रहने दो अपना ज्ञान, अपनी फिलॉसफी, अपनी आध्यात्मिकता,
अपना विज्ञान, अपने सामाजिक नियम और अपनी धार्मिकता।
चलने दो मेरा जीवन, जैसे सुन्दर बचपन,
मुझे पक्षियों की तरह उड़ना अच्छा लगता है।
रहने दो मुझे अज्ञानी,
मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा ज्ञान, तुम्हारी विद्वता।
मुझे तो जंगलों में बसना ही प्रिय है।
पक्षियों के कल-कूजन के साथ मुझे गा लेने दो, रोको मत।
सूखे पत्तों की चरमराहट में मुझे दौड़ने दो, रोको मत।
उगते हुए सूरज के सामने मुझे प्रकृति की ओर दृष्टिपात करने दो।
वन के पत्तों, सरिता के जल और आकाश के वायु पर मुझे जीने दो।
रहने दो अपनी सभ्यता, अपना बड़प्पन, अपनी कीर्ति और अपना धर्म।
मुझे जाने दो जहाँ मैं चाहूँ।
कहाँ?

दूर, बहुत दूर, क्षितिज के उस पार,
जहाँ लौकिक रश्मियों का पहुँचना नामुमकिन है।
अपने सामाजिक नियमों से मुझे बाँधो मत,
अपने धार्मिक विश्वासों में मुझे भुलाओ मत,
अपनी वैज्ञानिक खोजों में मुझे हराओ मत।



सर्वतोभावेन अर्पण

तुमने अन्धकार दिया	– मैं भटकने लगा
तुमने प्रकाश दिया	– मैंने पथ पाया
तुमने भाव दिया	– मैं मचल उठा
तुमने स्वर दिया	– मैं गुनगुनाने लगा
तुमने प्रेरणा दी	– मैं आगे बढ़ा
तुमने इंगित किया	– मैं मुड़ा
तुमने सौंदर्य दिया	– मैं मुग्ध हुआ
तुमने वासना दी	– मैंने तृप्ति चाही
तुमने अनुराग दिया	– मैं चाहने लगा
तुमने विराग दिया	– मैंने विश्व से नाता तोड़ा
तुमने बुलाया	– मैं तुम्हारे पीछे चल पड़ा
तुमने अपने में समा लेना चाहा	– मैं तुममें समा गया

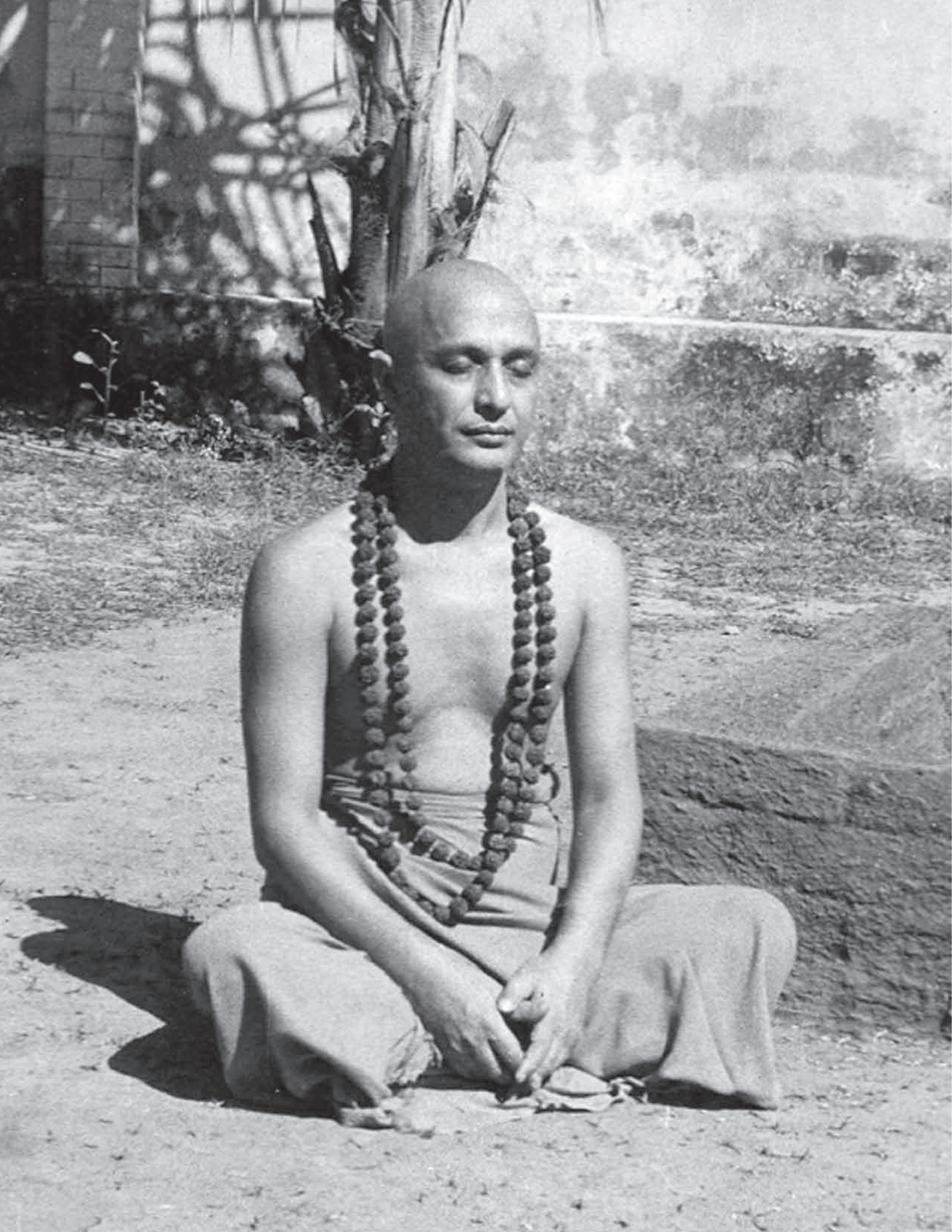
तब मैंने क्या किया, बता सकोगे?
मैं तो केवल आलम्बन मात्र ही हूँ न?

पंचभूतों से निर्मित देह, अवतरण और वातावरण से बने संस्कार, परिस्थितियों के अनुगामी कार्य और उसके परिणाम, प्रगति और प्रेरणा के भारवाहक विचार, संगति के प्रभाव में आवेष्ठित तर्क, आत्मा के लिए अर्जित ज्ञान, जीवन का स्वप्रणीत सिद्धान्त, सिद्धान्तों पर आधारित लक्ष्य, अन्ततः सफलता या असफलता कुछ भी तो नहीं था।

मैंने वैभव चाहा	– तुमने निर्धनता दी
मैंने उत्कर्ष चाहा	– तुमने अपकर्ष दिया
मैंने प्यार चाहा	– तुमने दुत्कार दिया
मैंने मित्रता चाही	– तुमने शत्रुता दी
मैंने जीवन चाहा	– तुमने मरण दिया

मेरी अभिलाषाएँ मेरा मुँह ताकती रह गईं – मेरी कामनाएँ कालगति से टकरा कर चूर-चूर हो गईं।
मेरा सर्वस्व लुट रहा था और मैं विस्फारित नेत्रों से देख रहा था। मेरा कोई वश नहीं था, न तुम पर, और न अपने पर।

तब इसका उत्तरदायी कौन? तुम या मैं ...



रक्ताञ्चल से स्वर भर लाती

मुझे सर्वदा अपने गुरुदेव का जो चिर अभिलषित प्रसाद आशीष और स्नेह के रूप में प्राप्त होता आया है, नवजीवन और ज्ञान के रूप में प्राप्त हो रहा है, वाणी-विलास से परे है। श्री गुरुदेव की प्रेरणा सजीव हो रही है। मैं उनके ऋण से तभी उऋण हो सकता हूँ, जब मैं उनके उपदेश जन-जन के हृदय में भर दूँ, और स्वयं इस दारुण जग जीवन पथ पर उनके चरणार्विन्द की विभूति के सौरभ में ओत-प्रोत उनकी तपोल्लसित स्निग्ध चन्द्र छाया में परम धाम तथा सद्गति की ओर चिरन्तन युगों के साथ चलता रहूँ, और अविश्रान्तगत्वा चलता ही रहूँ।

नगर प्रवासी मेरे पथ पर,
तेरी अरुणिम-रेखा आती।
सभ्यपुरी के कल-कल तम में,
है शान्ति-सोम छवि बन जाती ॥1॥

सुखद मलय की मधुर शान्ति में
वह संदेश तुम्हारा लाती।
बालारुण की स्वर्ण किरण में,
तेरी पावन आभा छाती ॥2॥

नील गगन में देखा करता,
तारावली जब हँस कर आती।
शान्त नयन में देखा करता,
जब वह नभ में दीप जलाती ॥3॥

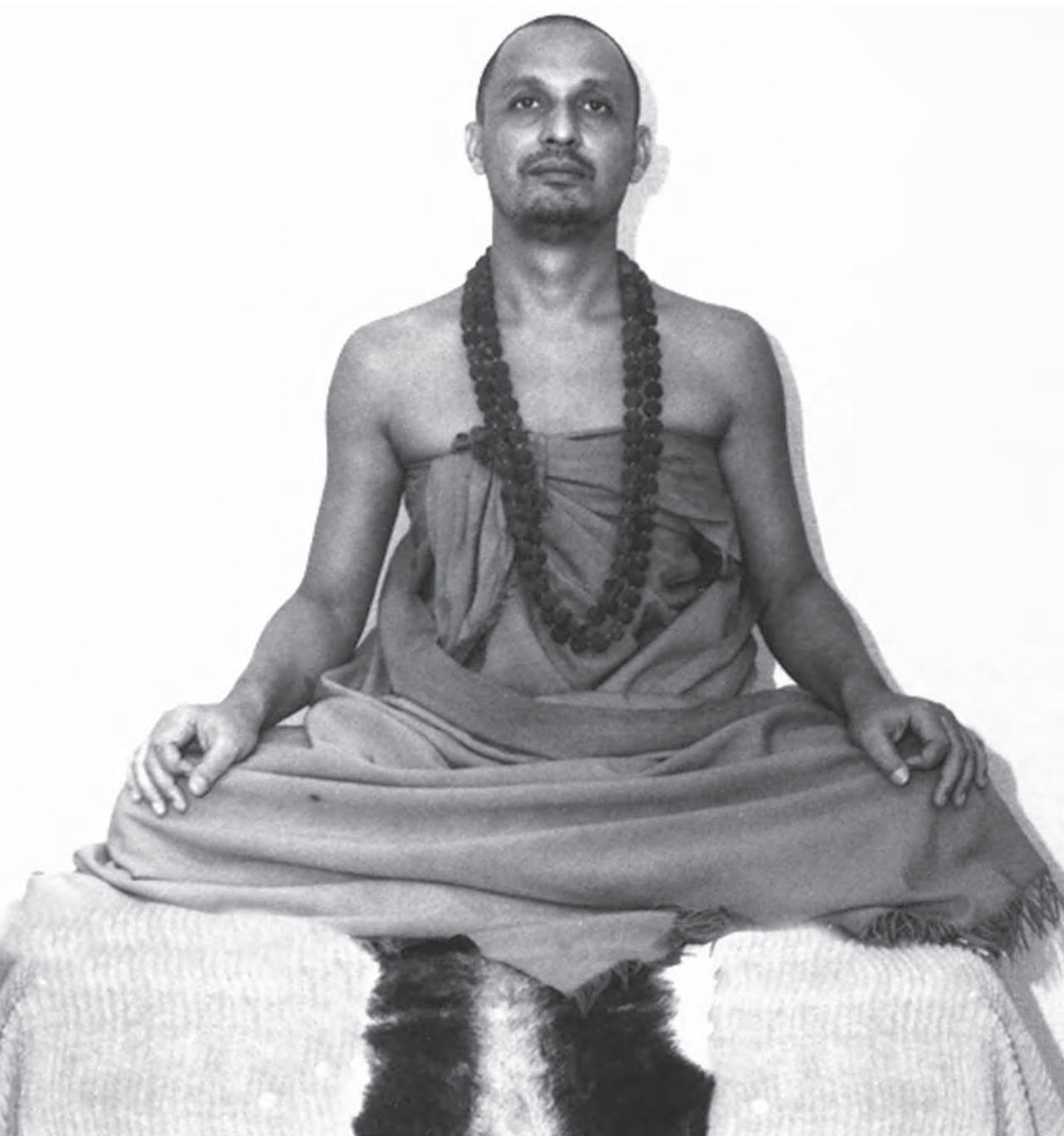
तेरा शुभ संदेश सुनाने,
चन्द्र किरण जब भू पर आती।
मुक्त कण्ठ हो मेरा रोना,
वह दीपक पथ से ले जाती ॥4॥

आशीष तुम्हारा सदा मुझे
है शान्ति सुखकर दे जाता।
पीता जब मैं स्वर्गिक अमृत,
केवल तेरी यादें आतीं ॥5॥

भूल गयी तब संस्कृत भाषा,
ममता छलना भूली जाती।
आनन्द नगर से भर कर आनन्द,
शिव की मधुमय ध्वनि है आती ॥6॥

मंगल सुख का अमृत भर कर,
मुझ दग्ध पथी को दे जाती।
फिर से तेरे स्मृति-पथ पर,
आत्मदीप नव राशि जलाती ॥7॥

कल्याण ज्ञान औ' स्नेह अमर ले,
सत्य हृदय में शान्ति जगाती।
दूर कहीं उस पावन पथ पर,
सत्य-धर्म का स्वर भर लाती ॥8॥



जीवन-ज्योति

श्री स्वामी शिवानन्द जी की
महिमामयी शक्तिमयी लेखनी से –
विश्व-जीवन में ज्योति की किरणें
कलात्मक हो रही हैं, जिन किरणों के प्रकाश में –
मानव को पथ नहीं खोजना पड़ता–
किन्तु अंधकार में जागता है प्रकाश,
प्रकाश से अनहद-सृष्टि और विराट्-विश्व
तब सर्वत्र मानव को प्रकाश ही प्रकाश दीखता है –
अपनी बाहु पसारे।
'जीवन ज्योति' में हम बालक जाते हैं,
जीवन पथ पर, स्वर्णिम तन धर –
अरण्यों, मरुस्थलों और गिरि शृंगों को,
कगारों, सागरों औ' भव जालों को पार कर,
बन कर विजया–विश्व विजय कर,
आत्म विजय कर–परमार्थ के नित-अनुपम-
पथ पर, और सच्चिन्मय ब्रह्म की भावानुरूपता,
विश्व विभायत्ता में क्लेश,
दु:ख और मृत्यु को जला –
जग के मरघट पर ही नाच-नाच कर,
अन्त में अद्वैत-सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं –
शांति, मोक्ष और आनन्द-चिरन्तन भी ॥ हरि ॐ ॥

रजत-जयन्ती

सत्य सुधामय प्रेम विभामय, ज्ञान रूप गुरु जय-जय।
जय हे ज्ञान रूप गुरु जय-जय ॥1॥

हे आनन्द कुटीर के वासी,
कर्म भक्ति औ' ज्ञान के राशी,
जननी जीवन जाह्नवी प्रियतम, मोक्ष चरण गुरु जय-जय।
जय हे ज्ञान रूप... ॥2॥

सत्य सुधा बरसाते,
कर्म छटा छिटकाते,
ज्ञान सुधावित, शान्ति सौख्य सित, सत्य चरण गुरु जय-जय।
जय हे ज्ञान रूप... ॥3॥

देव शिवानन्द स्वामी,
जग के हे अन्तर्यामी,
सुर नर वंदित, दिशि-दिशि गुन्जित, देवगीत गुरु जय-जय।
जय हे ज्ञान रूप... ॥4॥

अखिल निपन्जय जय-जय,
वीर प्रसू सुत जय-जय
निधन धारा के ज्ञान विभव तुम तुहिन हरण गुरु जय-जय।
जय हे अमरगीत गुरु जय-जय ॥5॥

मुनि की रेती में रहते,
गीत मधुर तुम गाते,
हिम गिरि पथ पर, अमर चरण धर, सन्त हृदय गुरु जय-जय।
जय हे सन्त हृदय गुरु जय-जय ॥6॥

अप्पय वंशज जय-जय,
शंकर जीवन जय-जय।
अज्ञान निशा में, उज्ज्वल दिनकर, विश्व विमोहन जय-जय।
जय हे विश्व विमोहन जय-जय ॥7॥

भारत भूषण जय-जय
पतितोद्धारक जय-जय,
आज मना कर 'रजत जयन्ती' सब गाओ मंगल गान।
जय हे, गावो मंगल गान ॥8॥

रजत जयन्ती आई,
भारति मंगल गाती,
युग-युग जीवें देव हमारे, तिमिर हरण गुरु जय-जय।
जय हे तिमिर हरण गुरु जय-जय ॥9॥

हरि के पार्षद गाते,
उद्धव नारद गाते,
अमर रहो हे जग के नायक, धर्मस्थापक जय-जय।
जय हे धर्म स्थापक जय-जय ॥10॥

मानव ऊपर देखा,
गाते गाते देखा,
जग में जीवन दिव्य बनाया, विश्व प्रतिष्ठा सुखमय।
जय हे विश्व प्रतिष्ठा जय-जय ॥11॥

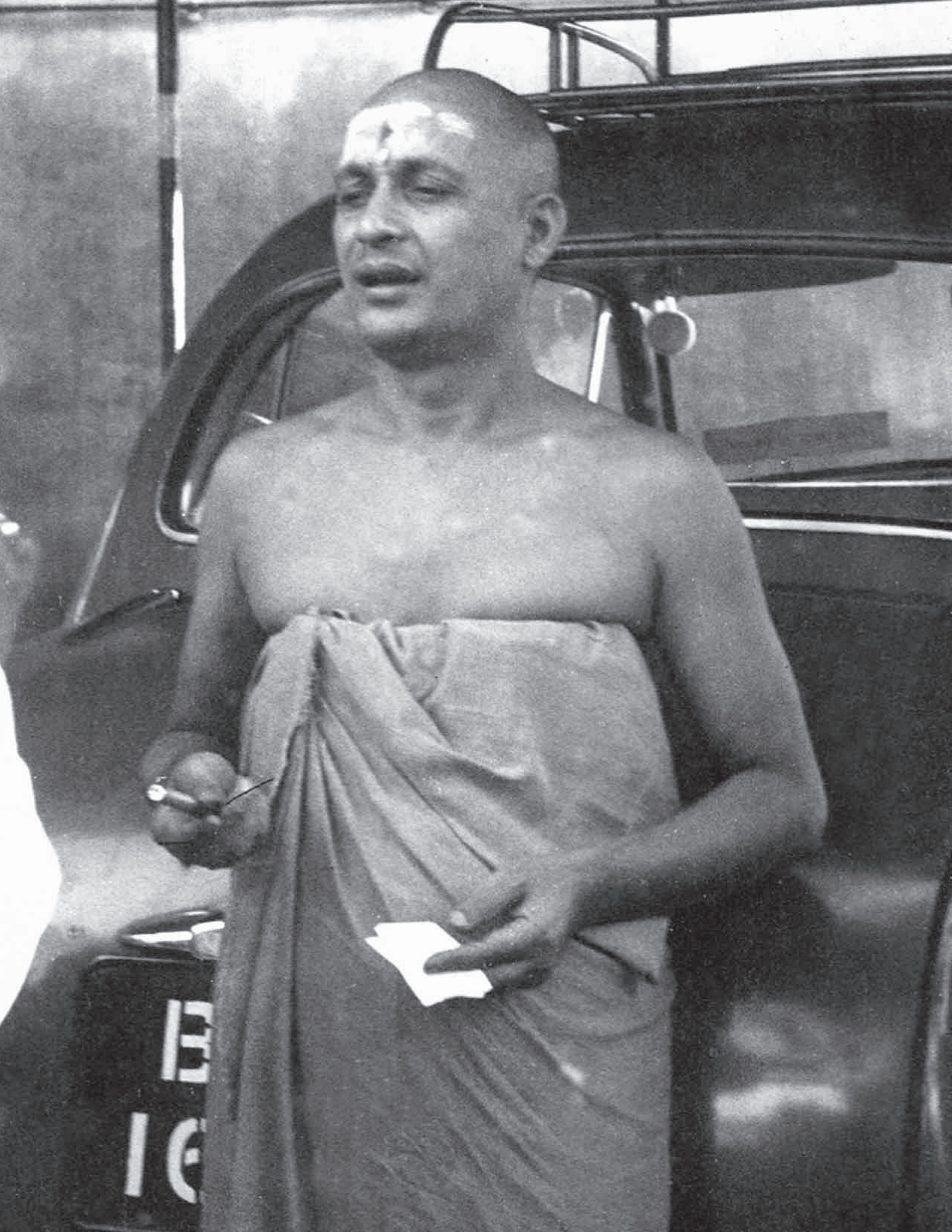
आओ सब मिल कर गायें,
हेम दिवस में जय गाएँ,
संन्यास विभामय 'रजत-दिवाली' अज्ञान निशा में छाये।
नर की अज्ञान निशा में छाये ॥12॥

रवि हेम दिवस में छाओ,
प्रभु कोटि 'रजत दिन' लाओ,
अनन्त कथाएँ तेरी स्वामिन, किस विधि हम नर गाएँ।
गुरु जी किस विधि हम नर गाएँ ॥13॥

सरिते पर्वत गाओ,
क्षितिज कोण में गाओ,
मंगल जीवन मानस नंदन, उर सिंधु मथन मुख जय-जय।
जय हे स्वामी शिवानन्द जय-जय ॥14॥

स्वामी शिवानन्द जय-जय,
ऋषि वंश विभूषण जय-जय,
सत्यानन्दित सुरसरि चुम्बित, आनन्दसस्मित जय-जय।
जय हे सत्य रूप गुरु जय-जय ॥15॥

ज्ञान रूप गुरु जय जय ...।



आठ सितम्बर

जन्म दिवस है आज, सब जय मंगल गाते।
आनन्द कुटीर में चहल-पहल, गिरि बन सुरसरि गाते॥

मुनि पद भूमा धन्य हुई है,
अलक नन्दिनी हर्षमयी है,
सब मिल कर गाते,
जन्म दिवस है आज सब जय मंगल गाते ॥1॥

दूर-दूर से भक्त पधारे हैं,
गुरु पद रज नव कमल बने हैं।
जिन चरणों को जगत् तरसता,
भक्त उन्हें हैं धोते,
योगी जन सम्राट् विजय हो, मंगल जय होवे।
जन्म दिवस है आज सब जय मंगल गाते ॥2॥

चन्द्र दिवाकर सम छवि लेकर,
धर्म पताका अम्बर पथ पर,
युग-युग तक फहरावें,
जन्म दिवस है आज सब जय मंगल गाते ॥3॥

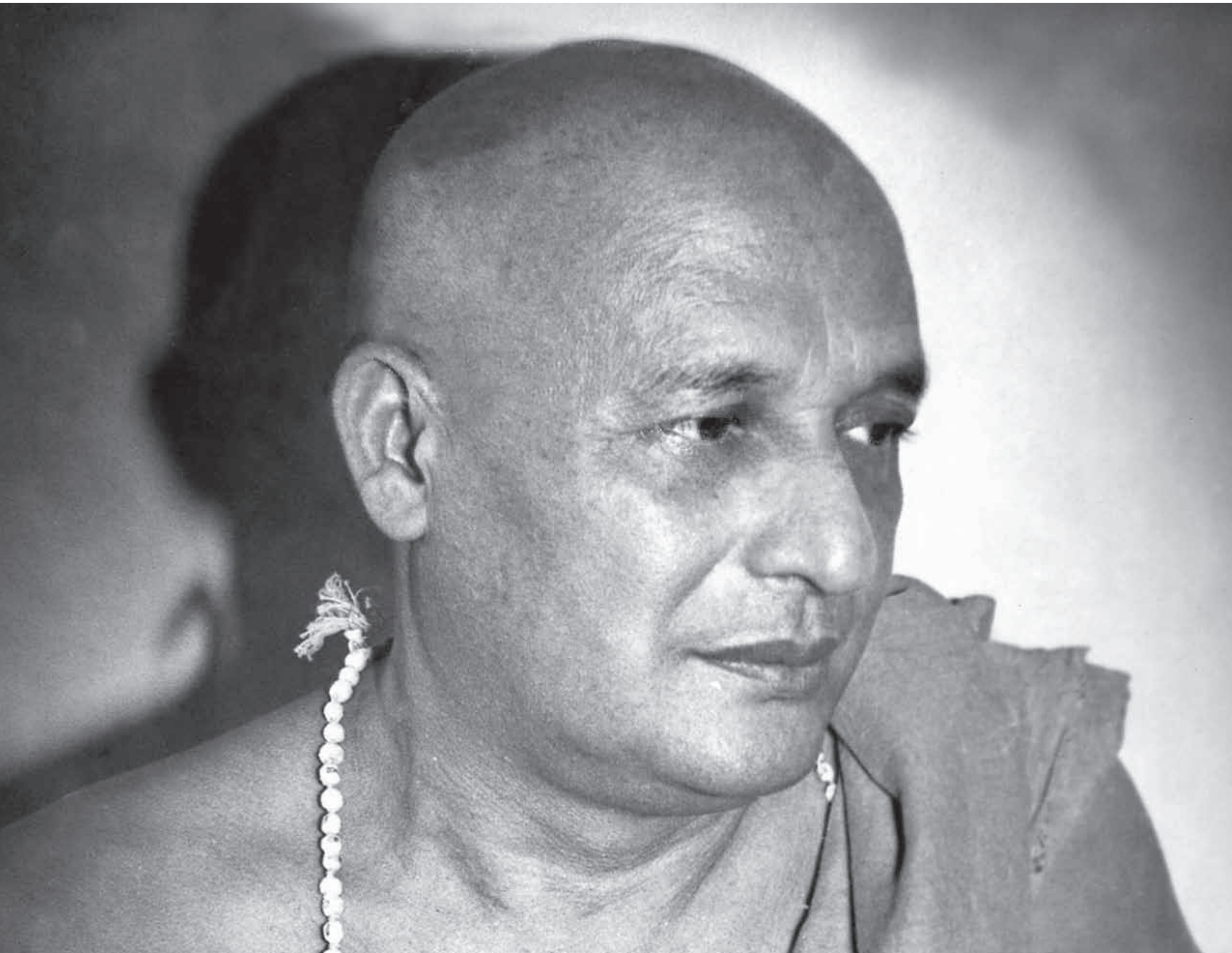
युग-युग स्वामी अमर बनो हे,
सत्य चिरन्तन ज्योति बनो हे,
जयतु शिवानन्द अमृत गाना,
आज सभी मिल गाते,
जन्म दिवस है आज सब जय मंगल गाते ॥4॥

जीवन में उल्लास जगा दे, पावन श्रुति गाते।
गो द्विज याचक मुक्त बने हैं,
करुण पतित के भाग्य जगे हैं,
इन्द्र सूर्य सम युग-युग जीना,
अमर नाम का अमृत पीना,

युग-युग जीवो देव 'शिवानन्द' आज सभी गाते।
जन्म दिवस है आज सब जय मंगल गाते ॥5॥

परम चितेरे की छवि

दृष्टि सौन्दर्य दर्शन करती है क्या,
अथवा हमारी आत्मा की परछाई ही
सौन्दर्य बनकर उभरती है?
मन के झरोखे से झाँकती,
चेतना और संवेदना के विभिन्न स्तरों पर तैरती हुई,
छविकार के कैमरे के उस वीक्ष की तरह
जिसे वह एक ही वस्तु पर विभिन्न पहलुओं से
केन्द्रित करता है।



यदि मेरे मन: चक्षुओं में
कुरूपता के ताले लगे हों
तब ब्रह्मलोक का सारा लालित्य
यूँ ही धरा रह जायेगा।

उस जरा-जर्जर धोबिन में,
जिसकी छातियाँ पेट तक लटक आई हैं,
कौन सी कमनीयता है?
उसने अपने उन केशों को कस कर बाँध लिया है,
जो बार-बार पसीने से लथपथ,
झाँईदार, दंतविहीन मुख पर झूल जाते थे।
उसके पड़ोसी को उसका भापन असह्य है,
उसकी कर्कश आवाज से वह कान मूँद लेता है।
लेकिन एक छंदहीन-छविकार की नजर
को उसने बाँध लिया है।
आह! कितनी प्यारी छवि उतरेगी।
पहली बार जब मैंने घुमावदार पहाड़ों को देखा
उनका खामोश, अबिद्ध सौन्दर्य अवर्णनीय लगा।
मैं धूप से सेंके हुए मचान और आकाश,
तरुगुल्म और जंगली फूलों के
बहुरंग रूपों का चहेता था,
हर रोज मैं उस स्थल पर जाता था,
जहाँ से परम चितेरे की इस महाछवि
को भरपूर देख पाऊँ।

अब जब समय ने पलटा खाया है,
मेरी उस छवि की मृत्यु हो गई है।
मैं शायद ही कभी बाहर जाता हूँ,
और यदि जाता हूँ भी तो मेरी दृष्टि
अपने कदमों के नीचे मार्ग पर गड़ी होती है –
मैं गीली मिट्टी ताक कर चलता हूँ,
ताकि पाँवों में पहाड़ के पत्थर न चुभ जायें।



शिष्य का प्रेम

गुरु के लिए शिष्य के प्रेम का सौन्दर्य
क्रोध के पटल से दिखाई नहीं पड़ता।
यदि गुरु के मुख पर कभी
बाह्य तिक्तता भी झलक उठे,
उसकी भंगिमा कठोर हो जाए तब भी
शिष्य की आँखों में आत्मा के सौंदर्य की सजलता बनी ही रहती है।
दूसरे लोग जिसे कुरुचिपूर्ण बता सकते हैं,
उसे शिष्य दिव्य सौंदर्य का प्रतिरूप मानता है।

तराशे हुए उत्कीर्ण रत्न,
नवजात की मुलायम चिकनी सी त्वचा,
इसका वर्णन एक जीवन्त कविता है।
लेकिन यदि आत्मा की देहरी में
संवेदना और शक्ति की उष्णता नहीं है,
सब रूप सतही हैं,
उसका मूल्य कागजी है

देखने वाले की आँखों में ही रहती है
सुन्दरता और कुरूपता भी।
ये सिक्के के दो पहलू हैं,
पर इनकी विभाजन रेखा है शून्य।
एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण कर
अपना आकार, अपनी परिभाषा
बदलने का जादू
ये दिखाते ही रहते हैं।



असली होली

ध्यान, पुरश्चरण और सतत् जप,
हमारी होली अभी आई नहीं।
जिस दिन साधना पूरी होगी
उसी दिन उसका पक्का रंग हम पर लगेगा।
साधना अनुष्ठान हमारी होली का त्योहार होगा,
जप माला देकर श्याम के रंग में रंगेंगे,
सुख की झोली में सुमिरन की अबीर लेकर।

रंग तो लगा है कुछ, पर कुछ और बाकी है।
भक्ति के रंग में बिल्कुल तर,
साधना के रस में सराबोर,
स्मरण के भांग के नशे में मस्त,
उनके सुमिरन में बिल्कुल धुत्त,
हमारी असली होली आने वाली है।

वह होली जो शरीर पर खेली जाती है
हम मन पर खेलेंगे,
इधर शरीर रंगते हैं, उधर शरीरी को रंगेंगे।
इधर कपड़े गीले होते हैं, उधर पहिनने वाला गीला होगा।
इधर हम-तुम रंगते हैं, उधर एक ही अपने को रंगेगा...
प्रतीक्षा करो...।

मुझे अभिनय करने दो

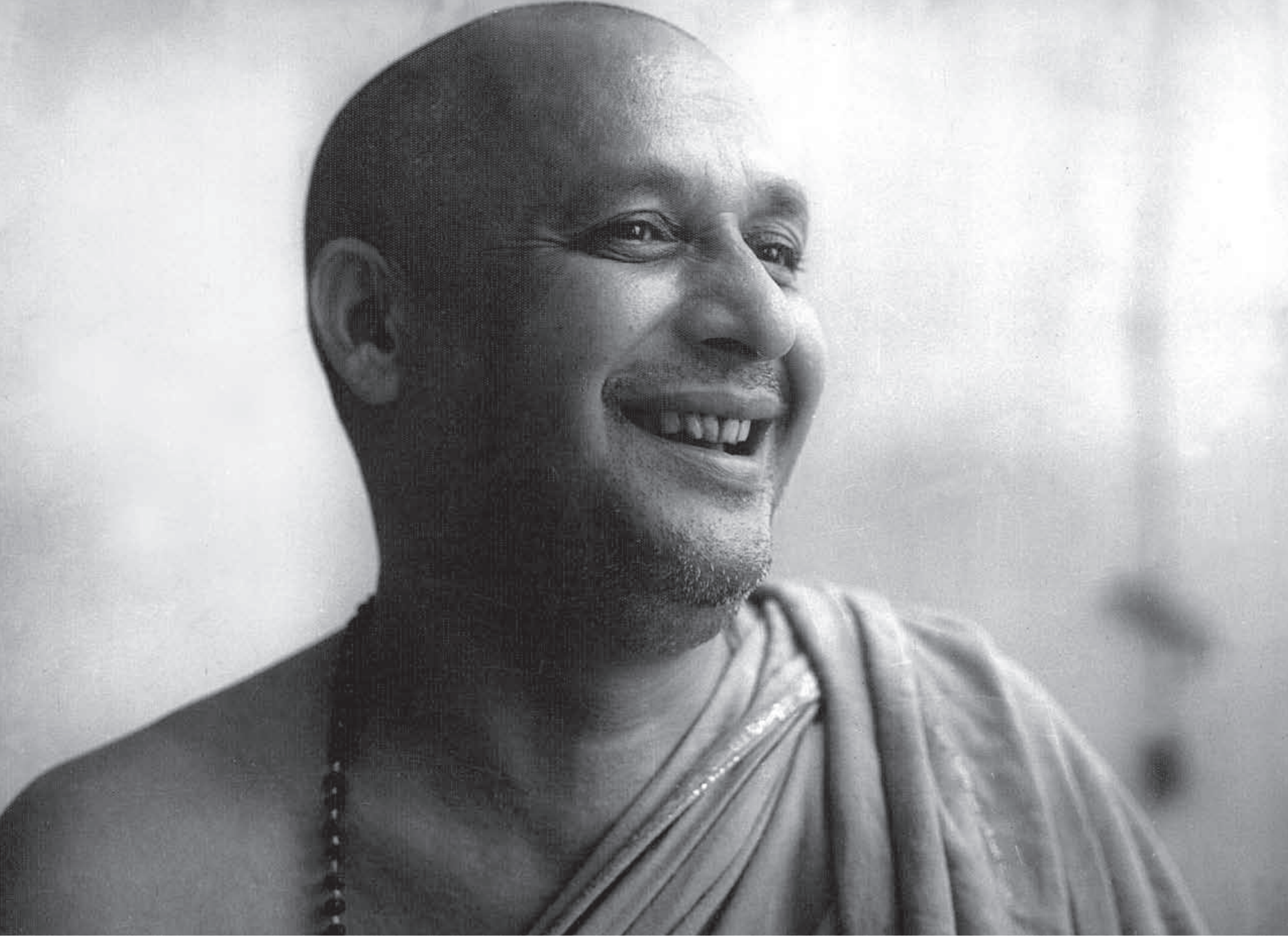
मैं बोलता कुछ हूँ,
मैं सोचता कुछ हूँ,
मैं चाहता कुछ हूँ,
मैं करता कुछ हूँ।

मैं तूलिकाविहीन चित्रकार,
मैं मुद्राविहीन कलाकार,
मैं भावनाविहीन कविताकार,
मैं प्रीतिविहीन दिलदार हूँ।

मुझे चित्र रंगों से भरने दो,
मुझे गीत उसके गाने दो,
मैं अभिनेता, अभिनय मुझे तुम करने दो,
मैं आया हूँ लुटाने, तुम लूटो और लूटने दो।







आदर्श यात्री

(जो मार्ग को सुमार्ग बनाते और सत्पथ के द्वार खोलते हैं)

दुर्गम पथ से होकर
एक यात्री जा रहा था।
ठण्ढी रात आने वाली थी
काली चादर लिए हुए।
यात्री एक नाले के पास आया,
नाला गहरा था
और प्रवाहशील भी,
वयोवृद्ध उस यात्री ने नाला पार किया।
नाले की गहराई उसे डुबा न सकी।
वह हारा नहीं।
नाले का वेग उसे थका न सका ॥1॥

उस पार पहुँचते ही वह वयोवृद्ध रुक गया;
आश्चर्य! उसने नाले को पुल से बाँधना शुरू किया।
'वयोवृद्ध' के पास ही खड़े एक सहयात्री ने कहा,
'समय क्यों खोते हो व्यर्थ पुलिया बाँधने में
आपकी यात्रा तो पूर्ण हो चुकी है।
पुन: तुम इस मार्ग द्वारा नहीं आओगे
और न यह नाला ही पार करना होगा।
तब क्यों अंधेरे में यह कष्ट-प्रयास?'
तभी वयोवृद्ध ने उठाया शीश ॥2॥

उन्नत हुआ गौरव भाल,
लहराने लगे रेशमी बाल।
लगे चमकने तिमिरांचल में...।
उसने कहा
प्रिय यात्री! इसी मार्ग से
आने वाले हैं कई बालक...,
सुन्दर होंगे उनके केश, एवं दीप्त भाल।
यही नाला जिसको मैंने पार किया
सम्भवत: उन कोमल-बालकों को
अपने गर्भ में सुला लेगा ॥3॥

इसी तिमिर-रंजित वन्य मार्ग में
वे नाले को देखते ही सहम जायेंगे...,
यात्रा पूर्ण नहीं कर सकेंगे,
गहन तिमिर में
इसी अरण्य में
व्याकुल होंगे,
भटक जायेंगे।
मेरे मित्र! उन्हीं बालकों का विचार कर,
भविष्य के उन यात्री-बालकों के लिए ही
मैं इस नाले पर पुलिया बाँध कर
सुगम्य बना रहा हूँ ॥4॥



तुमने जगा दिया

जब मैं-तुम के भेद मिटे,
तब क्या दूँ? किसको? किससे?

तब मैंने मुड़कर देखा,
सरिता सूख चली थी
सूरज जाग चुका था –
केवल तुम खड़े थे मेरे पास
जैसे-जैसे उजाला फैलता गया,
मैं मिटता गया,
रह गये केवल तुम
तरंगों के प्रबल प्रवाह में,

तुम मेरे नजदीक आ जाते हो
और जब वे लौटती हैं
तो मैं सोचता हूँ –
मैं कहाँ रहा, तुम्हारे पास क्या?

क्या होता इस जीवन का,
यदि तुम न होते मेरे जीवन में,
जीवन के प्रबल-प्रवाह में
जब कूल-किनारे छूट जाते हैं
तब तुम मुझे सहारा देते हो।
तब मैं तैरता हूँ
आर-पार, मुक्त गति से
तुम्हारे सहारे।
अब तरंगों का खौफ नहीं।

असीम है तुम्हारी गोद
अनन्त है तुम्हारा आलिंगन,
जब तुम मुझे अपने में समेट लेते हो
तब मुझे विश्व-सौन्दर्य का बोध होता है,
रूप-नाम नहीं प्रतीत होते।

मैं तुमसे प्यार करता हूँ या
तुम मुझे प्यार करते हो?
तुमने ही तो प्यार किया
और प्यार का उपहार दिया।
तुम ही उपहार हो।

तुम रोज आते हो अँधेरे में।
न मैं देख पाता,
न और कोई।

कई बार डर गया, जब तुम आए।
रोशनी जलाई,
तो वह जली नहीं;
नाम पूछा तो
तुम मौन रहे।
तुम्हारे आने का स्वर उठा तो सही,
पर और स्वरों में मिल गया।
मेरे पास ये लोग बैठे हैं,
तुम्हारे स्वर भी पहुँच रहे हैं,
दिल डूबता जा रहा है,
आँखें बन्द हो रही हैं,
अन्दर का दरवाजा खुल रहा है,
पर तुम नहीं दिख पाते।
इस आने-जाने का क्या अर्थ?
आते क्यों हो?
आये हो तो जाते क्यों हो?
मैंने तुम्हें नहीं बुलाया कभी,

गेरु साज-शृंगार
तुम्हारे लिये तो नहीं किया।
सौन्दर्य को छोड़ा
सुषमा को भी
सुख को भी
तुम्हारे लिये नहीं।
तुम तो सुन्दर हो,
तब क्यों आते हो?
मैं सो रहा था चैन से,
किसने मुझे जगा दिया,
जगा दिया, क्या किया?
मेरी नींद खतम।
रात-दिन जगना पड़ता है।



पूजा स्वीकार करो

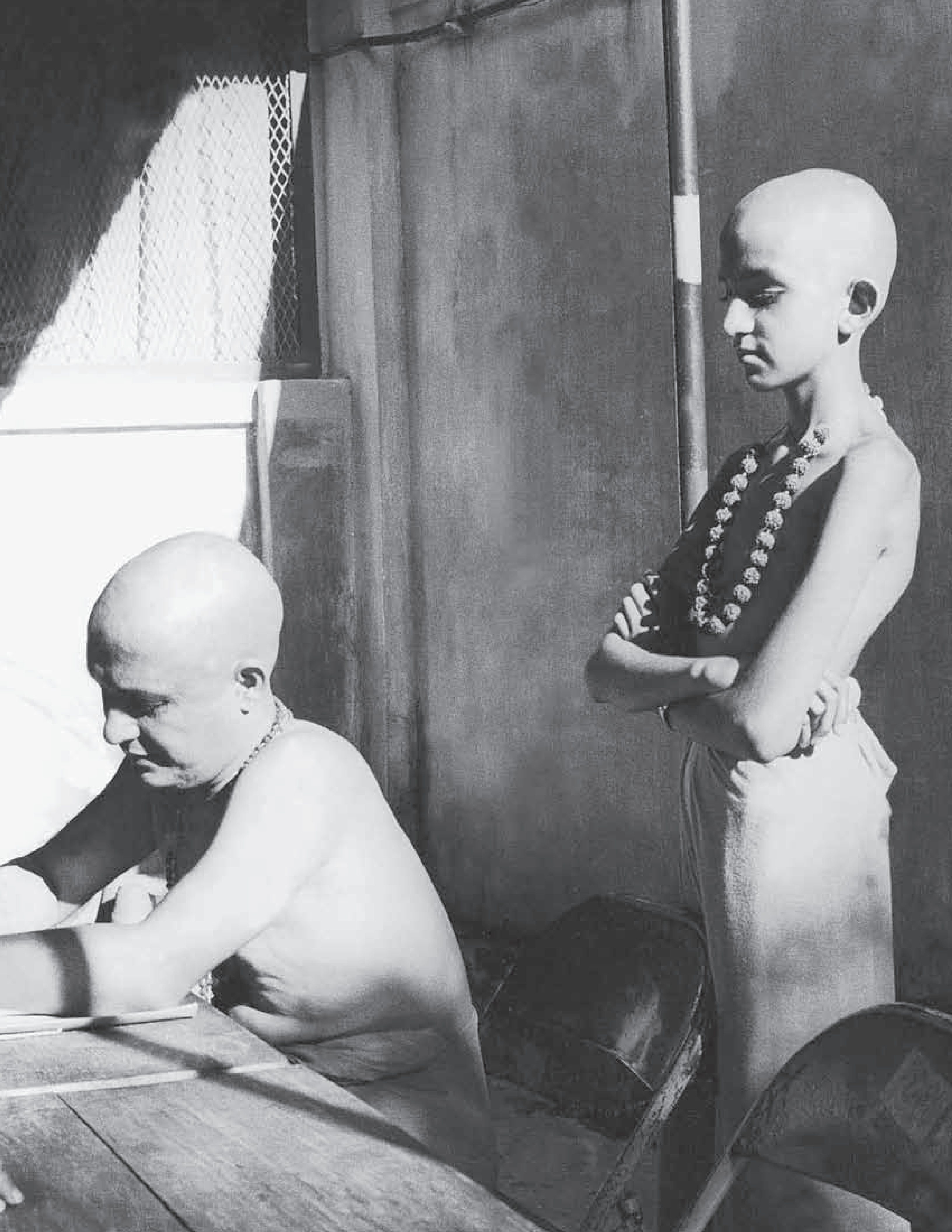
हे
दिग्विजयी
आओ, आज तुम्हें
माला पहनाऊँ, विजय
की सौभाग्यवती माला से पूजूँ।
आओ दिग्विजयी, तुम्हारे ललाट पर,
भव्य और सुन्दर भाल पर केशर चन्दन
और कुंकुम लगाऊँ। आओ दिग्विजयी, तुम्हारे
चरणों की शोभा में अपने जीवन की सभी आकांक्षाओं
को अनन्त कालों के लिये अर्पित कर दूँ।
हे विश्व के उन्नायक, आओ, मेरी पूजा
स्वीकार करो और मेरी याचना को पूर्ण
करो। मेरी माला को ग्रहण करो
और मेरे जीवन को
दिव्य बना दो।


Gita



प्रभु का अवतरण

कभी-कभी वे झाँकी दिखाकर चले जाते हैं
कभी-कभी वे ज्योतिर्लोक तक उतर कर चले जाते हैं
कभी-कभी सूक्ष्म लोक तक उतर कर चले जाते हैं
कभी-कभी भूलोक में भी उतरते हैं
इस लोक और उस लोक के बीच एक दिवाल है
जिसमें एक अतिसूक्ष्म छिद्र है
उसी मार्ग से वे उतरते हैं
और वे बिल्कुल प्रत्यक्ष दिखते हैं
परन्तु उनके आने के पूर्व
सतोगुण का उदय होता है
शांति जागती है, प्रभावों का अभाव हो जाता है
देवतागण आकर अन्त:करण को पवित्र
और भक्तिमय बनाकर चले जाते हैं
अन्त में गुरु के आगमन के साथ-ही-साथ
प्रभु का साक्षात् अवतरण होता है
बन्द आँखों वाले देखते हैं
पर खुली आँखों वालों के आगे
अंधियारा छा जाता है।



आध्यात्मिक मार्ग

जो मधुरता चाहता है,
जो मोहित व प्रभावित हो जाता है,
जो आसक्त है तथा प्रशंसा का इच्छुक है,
अहित करता है व हित की चाह रखता है,
वह साधक नहीं है;
वह ठहर कर लौट जायेगा।

यह लोक तीव्र और गहन है,
यहाँ से आगे जाना दुर्गम है,
इसमें अज्ञान की नींद आ जाती है,
साधक फिर देवलोक से होते हुए वापस आ जाता है।

क्योंकि यह मार्ग विरक्तों के लिए है;
कर्मठों, बहादुरों और आस्तिकों के लिए है;
स्वाभिमानियों और श्रद्धावानों के लिए है;
उदासीनों याने मस्तों के लिए है;
और प्रेमियों व भक्तों के लिए यह सदा खुला है।

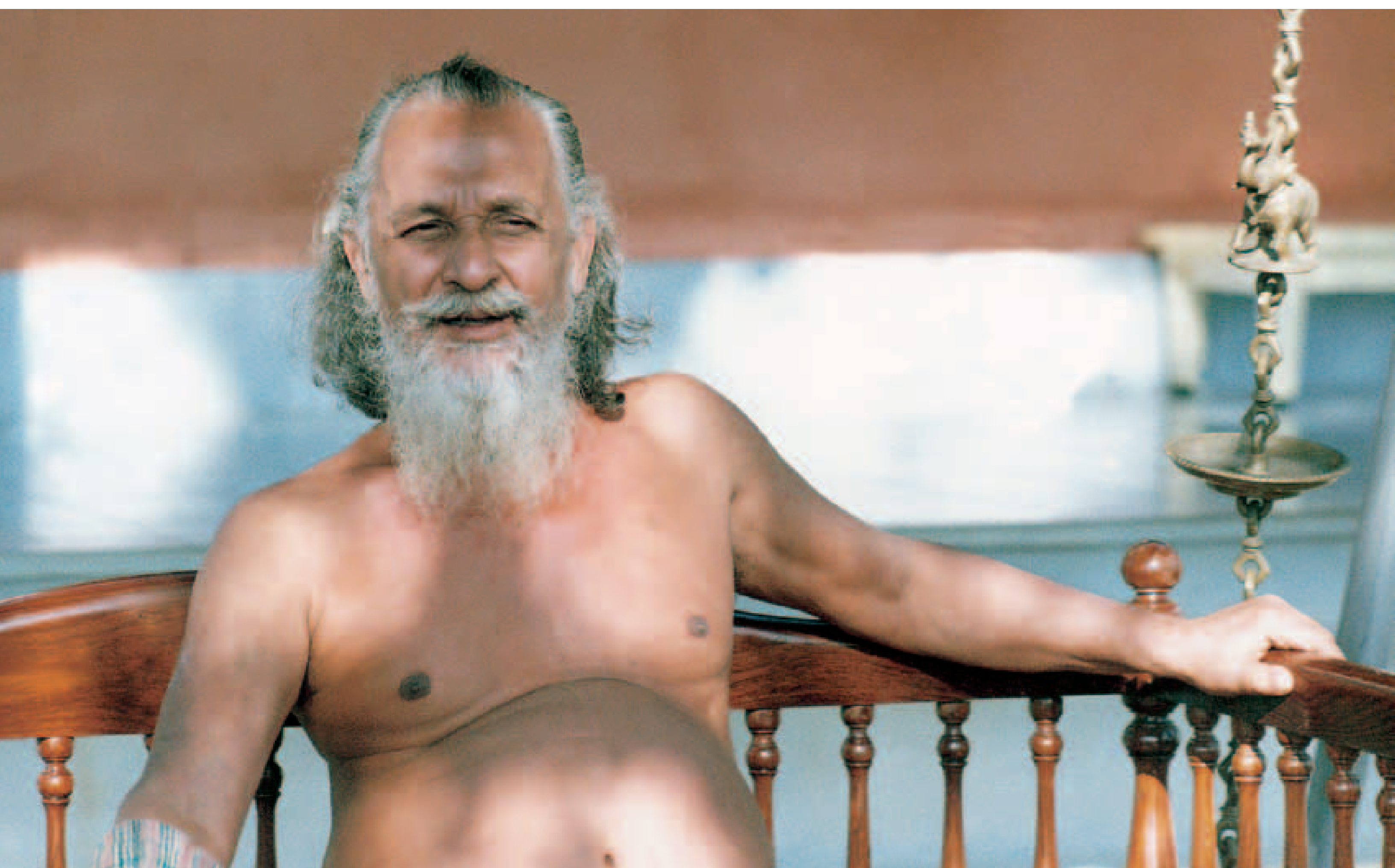


मुझे साथ ले चलो

मेरा हृदय तुझे, जिसे मैं जानता नहीं था, समर्पित हो।
मेरा मन तुझे, जिस पर मैं विश्वास नहीं करता था, न्योछावर हो।
ओ प्रभु! ओ स्वामी! तेरे पास समर्पण करने के लिए मैं आया हूँ।
कठिनाइयों और द्वन्द्वों के बीच, सफलता और असफलता के बीच,
अहंकार और वासना के बीच मैं युगों तक घूमता रहा हूँ।
अन्ततः जब धूप कड़ी है, रात बर्फीली, रास्ता अन्धकारमय,
मैं तेरे प्रकाश और पथ-प्रदर्शन के लिए तुझे पुकार रहा हूँ।
मैंने तेरी उपेक्षा की, यह सही है।
तेरे अस्तित्व को अस्वीकार किया और तेरे उपासकों से घृणा की,
यह भी सही है।
ओ दयालु, कि मैंने इच्छाओं को तुझसे बड़ा माना, वासनाओं को तुझसे बढ़कर समझा।
मैं तुझसे यह भी छिपाना नहीं चाहता कि अपने समृद्धिमय जीवन में
मैं तेरी चर्चा भी नहीं चाहता था।



लेकिन अब मैं थका हुआ और निराश हूँ,
शरीर, मन, बुद्धि और अहं जवाब दे रहे हैं।
जीवन की दु:खद यात्रा में मैं अब त्राण चाहता हूँ, जीना चाहता हूँ,
अपना अस्तित्व रखना चाहता हूँ।
ओ मेरी जीवन-यात्रा के कप्तान! तूने मुझे अशान्त और गहरे समुद्र से काली-कराली रात और जीवन के उतार-चढ़ावों से बचाया है,
और मेरे लिए सान्त्वना और आशा का अमर संगीत गाया है।
मैं इतनी दूर चलकर आया हूँ, किन्तु मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं।
मेरा मन उद्विग्न, शक्ति समाप्त तथा योजना विफल हो गयी है।
ओ मेरे प्रेमी प्रभु, जब तुम आवोगे और पास बैठोगे, तब मैं समझूँगा
कि मेरी समुद्र-यात्रा की पूर्ति तुम्हीं हो।
आओ, ओ अन्तर्ज्योति, आओ। असत्य से मुझे सत्य की ओर ले चलो, मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चलो।
इस निस्तब्धता में तुम मेरे पास आओ, मुझे अपने साथ ले चलो,
अपने अन्दर और अपने लिए ले लो...



स्नेह का प्रतिरूप

मुझे तुमसे स्नेह है।
ये शब्द नहीं भावनायें हैं।
मेरे लिए स्नेह आत्मा का उन्मुक्त उत्सर्ग है।
मैं तुम्हारी खुशहाली चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी ख्वाहिशों को पूरा करूँगा।
तुम्हारी तन्हाई में साथ दूँगा।
उस तन्हाई में अगर कुछ सुनाना चाहो तो सुनूँगा,
सुनना चाहो तो बोलूँगा।
मानव-स्पर्श की शक्ति चाहो तो मैं तुम्हारा स्पर्श करूँगा।
मेरी भावना सनातन रहेगी, ताकि तुम मेरे व्यक्तित्व को समझो
और शक्ति एवं सुरक्षा का अनुभव करो।
मैं अपने ढंग से चलता हूँ।

हो सकता है, तुम्हारे लिए अप्रत्याशित हो जाऊँ।
वह तुम्हें गैर मालूम हो, जो तुम्हें भयभीत करके बहकावे,
तब तुम सशंकित होगे, प्रश्न उठेगा, मन बहकेगा।
क्योंकि स्नेही बोलता नहीं, व्यक्त करता है।
मैं कोशिश करूँगा कि तुम विश्वास करो।
मेरी परिवर्तनशीलता क्षणिक है, किन्तु भावनायें सनातन।
हम सीखें कुछ रीत।
मैं मुकरूँगा नहीं।
अस्वीकृति कैसी
गर कल की आस है तुम्हें, तो वह कल कभी आता नहीं।
वह घटा है आकाश की, जो जाती है, न जाने कहाँ।
गर दूँ तुम्हें दया, समझूँ तुम्हारे भावों को,
मैं भी पाऊँ तुम्हारी दया।
गर दूँ तुम्हें घृणा और धोखा, मैं तुम्हारे पाऊँगा अविश्वास को
गर डराऊँ तुम्हें तो मुझे डर है, तुम भयभीत रहोगे मुझसे।
मैं तुम्हें वही दूँगा जो चाहता हूँ कि तुम मुझे दो।
कैसा स्नेह दूँ तुम्हें?
यह निर्भर है तुम्हारे ले सकने पर।
मैं तुम्हें वही स्नेह दूँगा जितना दे सकता हूँ छककर,
गर तुम दिखला दो, कैसे दूँ मैं और स्नेह,
मैं दूँगा तुम्हें जो तुम ले पाओ या तुम मुझे अनुमति दो देने की
मेरा स्नेह अनन्त, अक्षय पाओ, बाँधोगे गर सीमा में इसे,
मैं औरों को दे दूँगा शेष।
स्नेह असीम है, स्नेह का व्यवहार उन्मुक्त है,
स्नेह की परिभाषा मौन है।
मुझे स्नेह है तुमसे,
कला, प्रकृति, स्वयं और चर-अचर से।
मेरी अपनी गहराई तक।
जो स्नेह मेरी अनुभूति है, कोई उसे मिटा सकता नहीं, तब तक
जब तक रहूँगा मैं स्नेह का प्रतिरूप।
मेरा स्नेह मेरे ईमान का प्रतीक,
मेरे शब्द तुम्हारी आत्मा की सेहत बनें।
जब जबां खामोश होती है, क्या सचेतनता प्रकट नहीं होती?
जब मैं तुमसे न बोलूँ शब्दों में, तब भी मैं बोलता हूँ भावों में
और वह भाव है अनन्त अक्षय।
अगर समझ पाओ वे हैं हजार-हजार मौन शब्द,
तब मैं बोलता हूँ वे मौन शब्द।



नैष्कर्म्य की ओर

मेरे अनेकों मित्र हैं, अनेकों शिष्य, अनेकों भक्त। मैं पिछले पैंतीस-चालीस वर्ष के बीच की बातें कह रहा हूँ। बारह वर्ष गुरु भाइयों के बीच रहा। आठ बरस भक्तों, शिष्यों, सत्संगियों और मित्रों के बीच घूमा। अब लगभग बारह वर्षों से अभी तक शिष्यों के साथ रहना पड़ता है।

अपने पास सभी लोग आते हैं। सबसे मैं एक ही बात पूछता हूँ, सबमें एक ही बात खोजता हूँ कि हर एक क्या चाहता है।

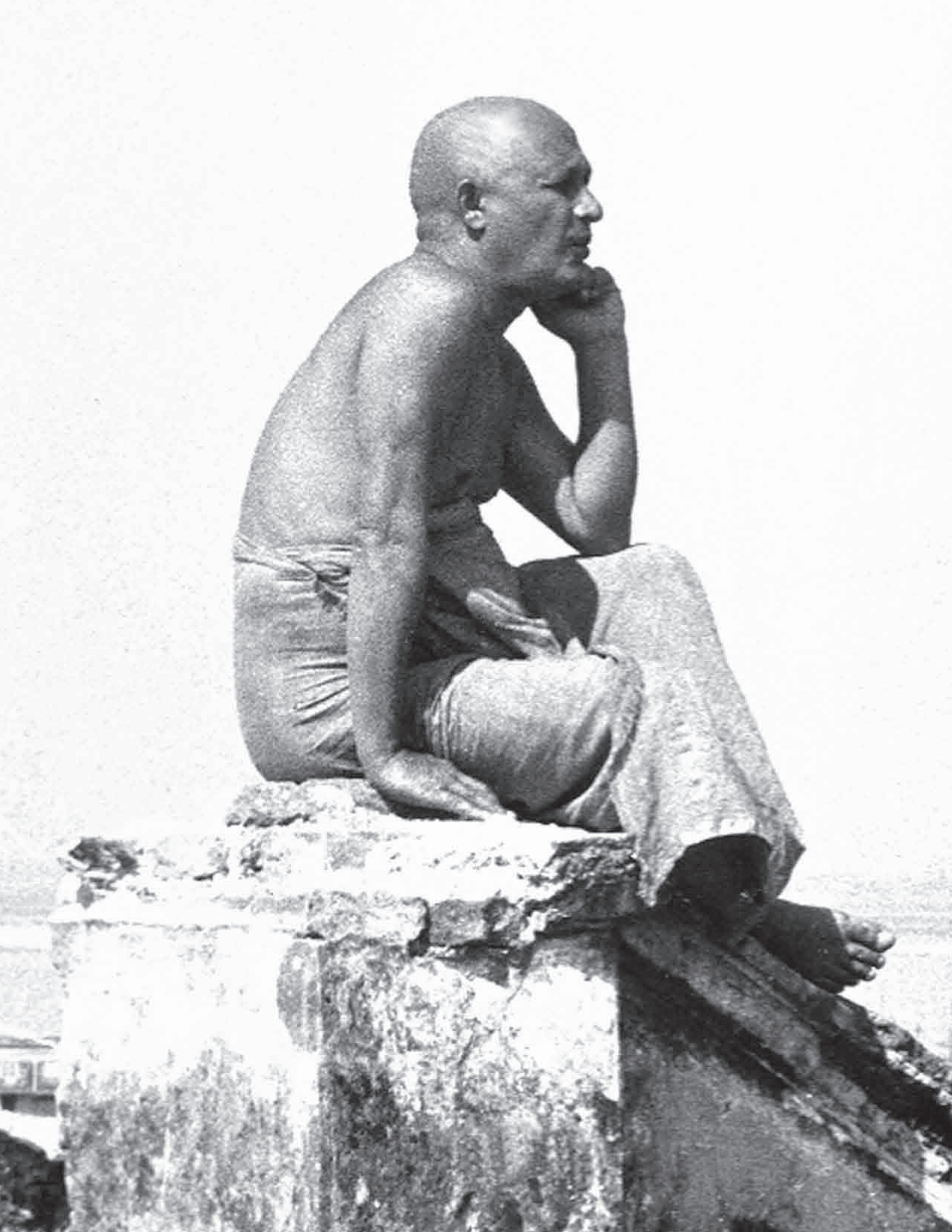
मैंने बहुतों को साफ-साफ पूछा कि क्या बनना चाहते हो? बहुतों के चरित्र-लक्षणों से जानना चाहा कि वे क्या चाहते हैं? बहुतों के रोग-लक्षणों से जानने का यत्न किया कि वे क्या चाहते हैं? सुखी-दु:खी, निर्धन-अमीर, शिक्षित-निरक्षर, मजदूर याने हर प्रकार के लोगों से उनकी मुख्य इच्छा जाननी चाही।

कोई ऐसा न मिला जो कुछ न बनना चाहता हो। महत्त्वाकांक्षाओं के एक तथा अनेक आवरण में लिपटा हुआ, इन्सान अपने चारों ओर उसी की प्रतिछवि देख रहा है। कर्म, विचार और फल ऐसा लगता है मानो इन्हीं अरमानों के वंशज हैं। महत्त्वाकांक्षाओं के हवाई घोड़ों पर सवार प्रत्येक आदमी बेतहाशा फिरता सा जा रहा है। अपने को खोजा तो ठीक एक उल्टा स्वर पाया। न पाना चाहा, न बनना चाहा। जो मिला तो ठीक और चला जाय तो ठीक।

आज इसी स्पष्ट उदासीनता के मध्य में खड़ा हूँ और प्रतीत हो रहा है कि कर्म, विचार और फल का आधार महत्त्वाकांक्षा नहीं, बल्कि जगमगाता अन्त:करण होना चाहिए। महत्त्वाकांक्षाओं की सीमा जहाँ समाप्त होती है वहाँ तटस्थता का संगीतमय प्रदेश फैला होता है और जहाँ अनासक्ति की धूप खिली होती है, ऐश्वर्य के फूल खिले रहते हैं। विभूति के आँगन में ऋद्धि, सिद्धि, बुद्धि – तीनों नित्य-निरन्तर पूर्णता के राग में आनन्दमंगल के गीत गाते हैं। तटस्थता की इस भूमि का न ओर है न छोर। हल्की धूप यहाँ छिपती नहीं, रात यहाँ होती नहीं। यहाँ खेतों में अन्न बहुत है और खलिहान भरे हैं। गायें यहाँ मन भर दूध देती हैं। यहाँ सुन्दर-सुन्दर बालक, सुन्दर-सुन्दर बालिकायें और मनोहर नर-नारी।

आज भी मैं कर्म, विचार और फल के तीन स्पष्ट संसार देखता हूँ। एक संसार है महत्त्वाकांक्षाओं का, दूसरा है तटस्थता का, तीसरा है निष्कर्मता का। तटस्थता के आयाम पर खड़े होकर मैं नैष्कर्म्य की भूमि की ओर जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा हूँ वैसे-वैसे विश्व चेतना, परम ऐश्वर्य और तीनों विभूतियाँ मेरी ओर सिमटती चली आ रही हैं।

इसीलिए मैं पुकार-पुकार कर कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – ये चारों योग के आश्रित हैं।



मैं कौन हूँ ?

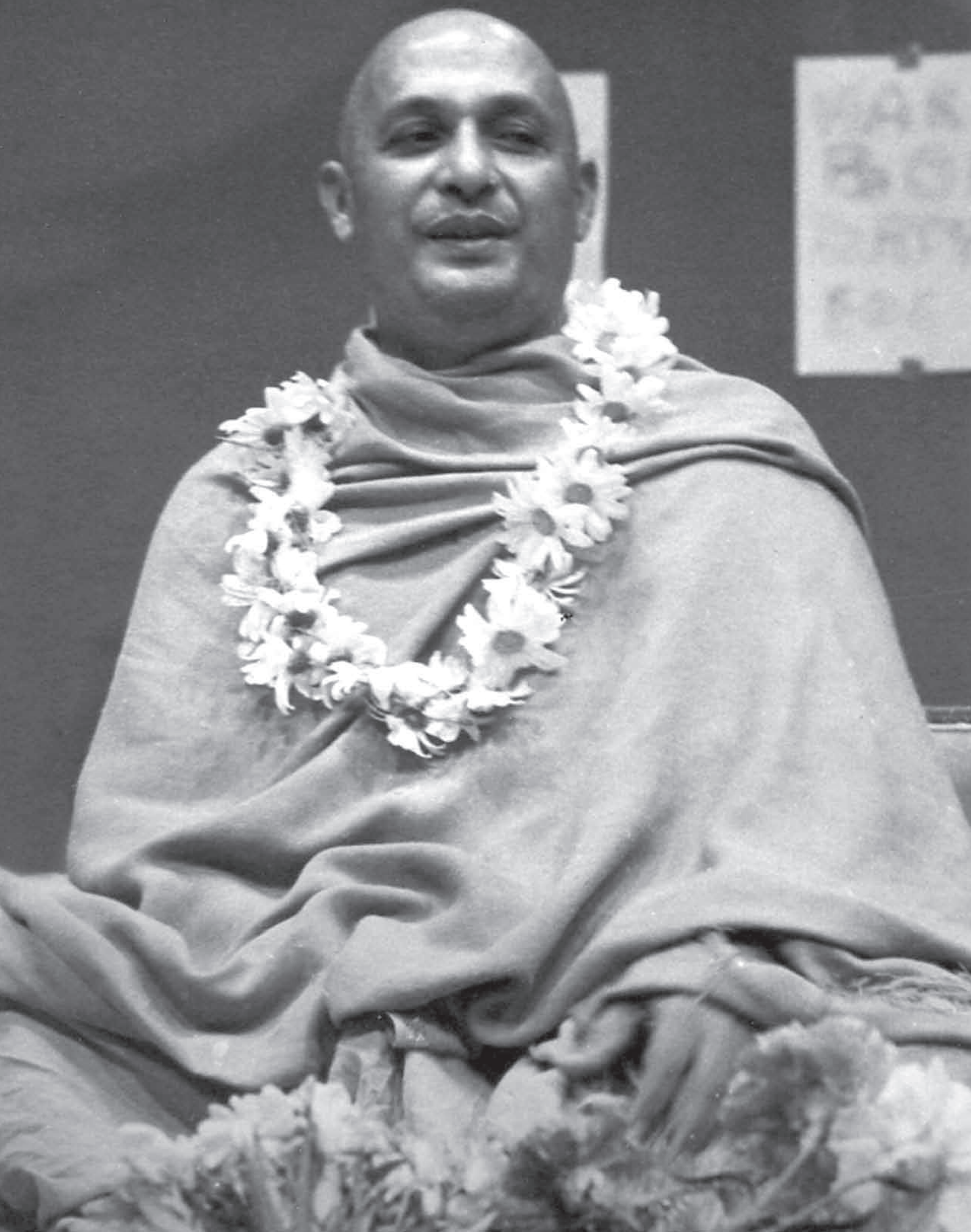
शून्य में यह प्रश्न प्रतिपल गूँजता।
और मेरा मैं मुझी से पूछता।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं कौन हूँ?
क्या यही मैं देह जिसका अन्त निश्चित?
क्या यही मैं श्वास जिसके अंक निश्चित?
शून्य अग्नि जल धरा या पवन हूँ?
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं कौन हूँ?
चरण से नापे क्षितिज यह मनुज का अभिमान।
बूँद से सागर बना यह बूँद को अभिमान।
देखकर यह दम्भ विस्मित मौन हूँ।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं कौन हूँ?
लवण की पुतली चली सागर नहाने।
बुद्धि के औ तर्क के लेकर बहाने।
देखकर यह भ्रम चकित हूँ मौन हूँ।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं कौन हूँ?
तुम हटा दो आवरण यह भेद तो खुल जाये।
कौन हो तुम कौन मैं हूँ, जग-विदित हो जाये।
अश्रुकण या चरमरेणु हूँ, स्वेदकण या मधुरवेणु हूँ।
कौन हूँ मैं कौन हूँ मैं कौन हूँ?

तुम हो शिव साकार

महातिमिर की झंझा की रव से
देव! चलो तुम, चलें हम,
चले सकल संसार।
तुम करुणा के दीपक साकार,
तारों की झोली के उपहार,
आकुल जन के तप्त हृदय की
उन्मत्त पिपासा की जलधारा।
तुम मानव के स्वर्ग विशाल,
वेद-शास्त्र की गीर्वाणी के
ज्ञान-प्रभा के तुम अवतार।
चलो चलो तुम युगों-युगों तक,
चले तुम्हारे पथ पर संसार।
तुम मानव के ईश्वर साकार
मुक्ति, सृष्टि, पुष्टि के अवतार,
ऋद्धि, सिद्धि के तुम संसार।
जगमग में बरसाते रहना
स्वर्ग-रश्मि, रजत मणि के हार।
तुम सबके हो उन्नत भाल
जग की मणि, मुक्ता के हार।
शशि के हीरक, नभ के दिनकर
महाविश्व के शिव साकार।







गुरु पूर्णिमा संदेश

गुरु पूर्णिमा के दिन गुरुजन शिष्यों के मंदिर में विचरण करते हैं, उन्हें आशीर्वाद देते हैं, अत: मंदिर खुला रहे, मन्दिर के कपाट खुले रहें, दीप और हार तैयार रहें।

प्रतिकूल व अनुकूल, दो परिस्थितियाँ होती हैं, तमोगुणी अनुकूलता चाहते हैं, रजोगुणी प्रतिकूल को भी अनुकूल बनाते हैं, सतोगुणी प्रतिकूल अनुकूल में समान भाव रखता है। जब परिस्थितियाँ हमारे इच्छानुसार नहीं होतीं तब हम नीति-चातुर्य भिड़ाकर उन्हें अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि मौसम हमारे अनुकूल हो तो हम आगे बढ़े, जहाँ प्रतिकूलता आई कि हमारी प्रोग्रेस ठप्प।

सच्ची बात कुछ और है, वह यह कि अनुकूल परिस्थितियों को बेहोशी लाने वाली समझना और प्रतिकूल हालत में भी अपने मन की शांति यथावत् बनाये रखना, अपने मन पर उसका असर न पड़ने देना और सन्तुलित रहकर ध्यान में मग्न रहना।

क्योंकि प्रतिकूल परिस्थितियों में किया जाने वाला परिश्रम, पायी जाने वाली विद्या, दौलत अथवा साधना ही चिरस्थायी रह पाते हैं, अनुकूल हालत में पायी जाने वाली चीजें प्रतिकूल हालत में हमारा साथ नहीं दे पातीं।

यदि हमारी निन्दा होती हो, तो हम उससे मुक्त होने का प्रयास न करें, क्योंकि प्रत्येक इन्सान ऐसा ही तो करता है, तब हममें और उसमें अन्तर ही क्या रहा? यदि कोई तुम्हारी बदनामी करे तो तुम अपने बचाव के लिए न तो सोचो, न तर्क ही उपस्थित करो और न यही चाहो कि लोग तुम्हें निर्दोष समझें। यदि हम निन्दा, गाली, तिरस्कार, अवहेलना, असुविधा और व्यंग्य का निराकरण करना चाहते हैं तो हममें सहनशीलता, मानसिक शान्ति और तपस्या की शक्ति है ही नहीं। यदि हम छोटी-छोटी बातों में ही विचलित होते हैं तो बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना कैसे कर सकते हैं – काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद को कैसे पार कर सकते हैं।

अत: गुरु पूर्णिमा का संदेश यही समझना कि जीवन के हर रंगमंच पर शान्ति कायम रखो। सारे संसार को गाली देने दो। तुम अपने अन्दर सन्तुलन कायम रखो।

अगर तुम अनुकूल और मनपसन्द मौसम में ही रहना चाहोगे, तो याद रखो कि एक न एक दिन बदलता हुआ मौसम तुम्हें व्यथित कर देगा। तब तुम्हें यह जानकर दु:ख होगा कि तुम्हारी चिरकालीन सिद्धि भी नष्ट हो गई है।

अत: हे! आओ, संकल्प करो कि मुझे सदा काँटों में पालो, निन्दा के हार पहनाओ, व्यंग्यों से मुझे जर्जर करो ताकि मेरा मन मजबूत हो, जिससे मैं अनन्त काल तक शान्त रहूँ।



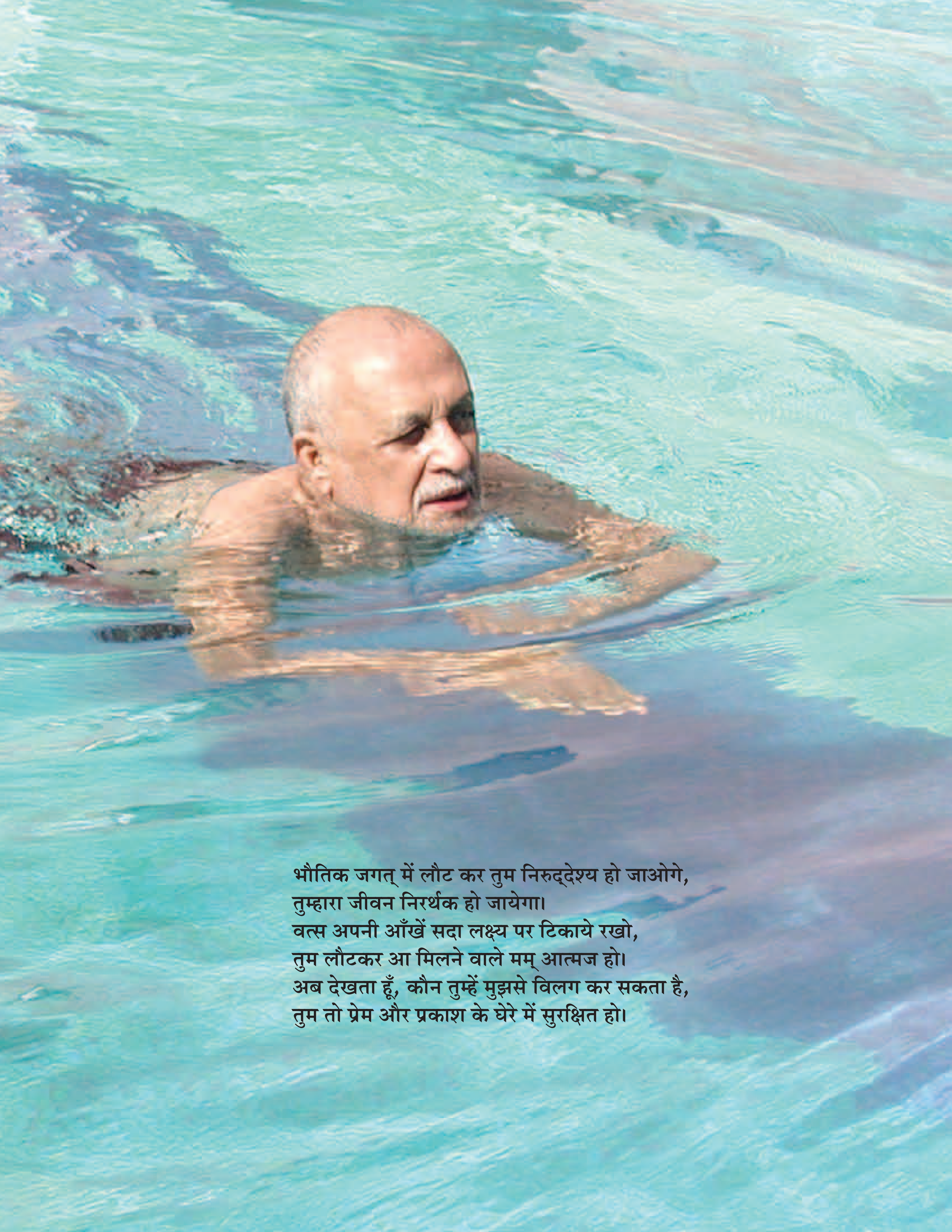


पूर्णता का मार्ग

अम्बर की विशाल छत्रछाया में
हर कण विश्राम पाता है
और अवनि की मृदु गोद में
चर-अचर क्रीड़ा करते हैं।
समय के संग रंग-रूप बदलते हैं
किन्तु प्रशान्त सागर सा चेतन तत्त्व
अविचलित, अविघटित रहता है।
जीवन-मृत्यु की उत्ताल तरंगें
सृष्टि का निर्माण करती हैं।
एक की मृत्यु दूसरे का जीवन बन जाती है।
मृत्यु मुख में खड़ी पकी लहलहाती फसल
अनेकों का जीवन सँवार भी तो देती है।
पृथ्वी-प्रदत्त उत्तम उपहारों से
स्वयं माता जगदम्बा हम सबका
अपने सुकोमल हाथों से पोषण करती है
और पिण्ड-पिण्ड में व्याप्ताकर्षण
धर्म का यह पाठ पढ़ाती है
कि अपूर्णता की पूर्णता के लिये
प्रचुरता से न्यूनता की ओर
धन-धान्य का प्रवाह होता है
कि प्यासों को जल देना होता है
कि दीन आर्त हृदय को दिलासा देनी होती है
अहिंसा का जय घोष करते हुए
पृथ्वी की उदात्त सहृदयता से कुछ सीख लेकर
शरीर व आत्मा को आहार मिल सकता है।
योगपथारूढ़ जिज्ञासु का
शिव प्रदत्त यह देह यन्त्र,
यह आत्म तत्त्व, यह बुद्धि-कौशल,
दक्षिणा, शिव-शम्भु को नमन कर
है समर्पित, जन क्रन्दन पर।
शरीर-मन का यथार्थ प्रयोग
बस वही व्यक्ति कर पाता है
ब्रह्मात्म भाव में लीन सदा
जो शिवोऽहम् शिवोऽहम् गाता है।

शिष्य के प्रति

अपनी तरुणाई में तुमने यात्रायें की हैं,
वे खोज, प्रयास और संघर्ष के दिन थे –
भटकना, उत्सुक रहना कि
तुम कौन हो, जगत् का अर्थ और उद्देश्य क्या है?
अपनी निर्भय साहसिक यात्राओं में लगे रहो,
क्योंकि अब तुम निःसंग नहीं हो,
अब तुम्हें प्रेम की छत्रछाया प्राप्त है,
अदृश्य कर तुम्हें निर्देश दे रहे हैं।
सम्भव है तुम्हारे पग डगमगायें, तुम्हारी शक्ति चुकती सी लगे,
लेकिन आश्वस्त रहो, तुम अपने अभीप्सित लक्ष्य तक पहुँचोगे।
बहादुरी के साथ आगे बढ़ते रहो
और अगर तुम क्लान्ति का अनुभव करो
तो रुक कर अपने सामने उन चरम ऊँचाइयों की गरिमा पर
पुनः दृष्टिपात करो,
क्योंकि थका-हारा मन लौट चलने के विचारों और प्रलोभनों का
शिकार हो जा सकता है।
तुमने अपने पीछे क्या छोड़ा है, जो तुमसे लौटने की माँग कर रहे हैं,
तुम्हारी भौतिक महत्त्वाकांक्षायें अपने दिन पूरे कर चुकी हैं,
सम्भव है तुम इस बात को पूरी तरह नहीं समझ पाये हो,
तुम्हें यह लगता है कि तुम न यहाँ के रहे न वहाँ के।
लेकिन वास्तव में तुम मेरे साथ हो
तुम लौकिक जीवन की निस्सारता जान चुके हो,
फिर भी सत्ता की अन्य सतहों तक नहीं पहुँचे हो।
तुम्हारी स्थिति कहाँ है यह भी तो निश्चित नहीं बता सकते,
लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम कौन हो, तुम्हारा घर कौन सा है
और कहाँ वह सब पाओगे जिसकी अभीप्सा तुम्हें है।
विगत की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती –
वह था तुम्हारी आत्मा की यात्रा का एक पक्ष,
तुम्हारी वास्तविक सत्ता को ढूँढ निकालने का एक प्रयास।
तुम जानने लगे हो कि तुम वस्तुतः क्या हो,
और तुम्हारे जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है?



भौतिक जगत् में लौट कर तुम निरुद्देश्य हो जाओगे,
तुम्हारा जीवन निरर्थक हो जायेगा।
वत्स अपनी आँखें सदा लक्ष्य पर टिकाये रखो,
तुम लौटकर आ मिलने वाले मम् आत्मज हो।
अब देखता हूँ, कौन तुम्हें मुझसे विलग कर सकता है,
तुम तो प्रेम और प्रकाश के घेरे में सुरक्षित हो।



शिष्य का पथ

शिष्य का उत्सर्ग –
तन का
मन का
हृदय सजल का
एकता हो जाती साकार,
द्वैत का मिटता संसार।
थम जाते नयन,
थम जाता जीवन
एक छोर पर
नहीं साधना
नहीं तप
ना जोग, ना विराग –
हर स्पन्दन में रतिमय संसार,
इच्छाओं का जब होता निर्वाण
श्वासों में जब उगता नाम,
परिधानों के घेरे को चीर,
जब दमकती बिजली चम्-चम्
महा तिमिर के कण-कण में
तब उगता एक नया प्रभात।
मैंने पाया
उत्सर्ग जीवन का
कितना अभिराम
इसके उल्लासों की
इसके झंकारों की
तन्मयता में
गुरुता का
नि:सृत होता संसार।

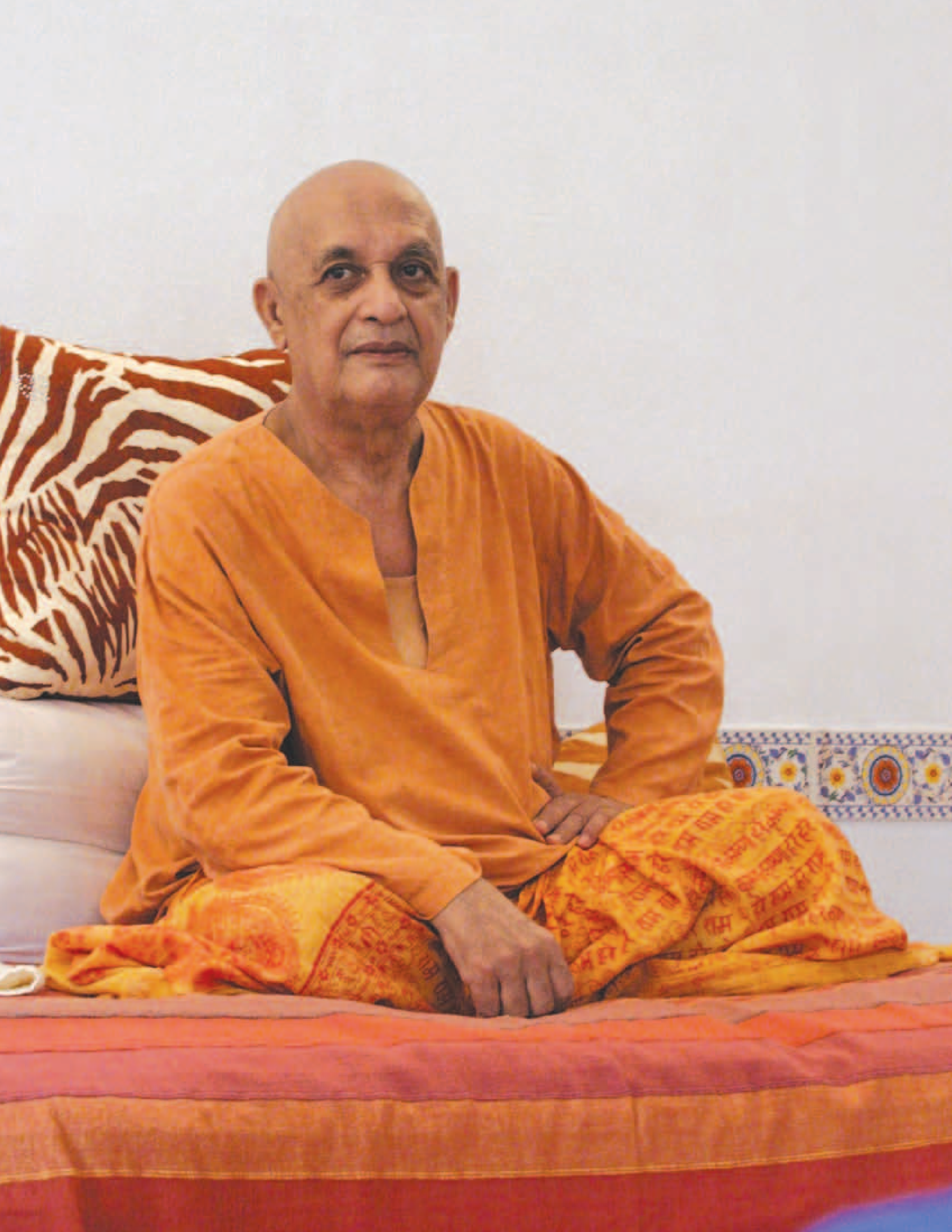
शिष्य का
जब हुआ उत्सर्ग
तो गुरु कौन,
तो चेला कौन?

गुरुत्व में है अभिमान
द्वैत की पुष्टि
माया का अभियान।
इसके मग में
उगते कण्टक
उड़ती धूल
पथरीले पथ पर
गुरु का यह विकट जंजाल

शिष्य का पथ महान्
प्रेम, समर्पण, मिलन का
और फूलों की शय्या में
सौरभ का
गीतों में थिरकन
लय की।

एक विचित्र अभियान
जिसमें मिटते क्लेश
जलते जंजाल
उगते फूल
पिसते काँटे
नहीं धूल
नहीं पथरीले पथ-संचार।

साधना के फूटे स्रोत
तब बहता निर्मल जल
मानस की गोदी पर,
खुलती प्रतिभा
खुलती सिद्धि
और एक गीत सनातन –
समाधि,
हाँ, निर्विकल्प समाधि



योग-सनातन

जहाँ दिवा औ' निशा नहीं
विशुद्ध पावन निर्मल ज्ञान
वरद अभय, शाश्वत आनन्द
मौन सनातन वह गतिहीन
मृत्यु नहीं, नहीं प्रलय।
मन वाणी से भी योग नहीं
जग-जीव का पावन जीवन
आत्माओं का परमात्मा
नेत्ररहित स्पन्दन, परतः साक्षी,
प्राण सभी का शान्त सनातन।
उसको योग-सनातन कहते हैं
सर्वपूर्ण, आत्म क्रान्ति औ' परम शान्तिमय
युगनायक युगस्त्रष्टा विश्वम्भर
हृदय स्पन्दन में तड़िच्छटा
औ जग का अक्षय वैभव।
एक ज्योति है, एक उदधि पथ
दीप शिखा या जल-कण, लहर-लहर
नाम-रूप का भेद परस्पर
पर तत्त्व एक है विश्व तथा है
विश्वम्भर वह विश्व नियन्ता
अणु-अणु में व्यापक तन्मय।
कर्मभूमि उप अर्जित जीवन स्वर्णिम
'भूमा तत्सुख' आप्त वचन यह
वही शास्त्र का पुरुष पुराण
द्रष्टा, श्रावक, मनुज-विधान
दूर नहीं पर अन्तर में है वह ज्योति सनातन
जीवन-प्राण आत्मा सबमें
क्या अंकुर, क्या वृक्ष विशाल।



वह गुरु मैं चेला

नेत्र हीन मैं
टकरा गया
राह में।
जब लगी
बैसाखी की ठोकर
तब समझा
कि वह
कोई लंगड़ा था।
कहा उसने
कब तक ठोकर खाओगे
गिरते पड़ते रह जाओगे।
मुझे जाना दूर था
मार्ग दुर्गम दुसह्य।

मैं भी मार्गदर्शक
की खोज में
निकला हूँ
तब तय करूँगा सफर
दोनों अपंग
कैसे पायें मंजिल का दर?
दूर द्रष्टा उस लंगड़े ने
तब निकाला मार्ग एक
ले चल कंधे पर
तुझे मैं बतलाता हूँ राह
करना होगा तुझे
मेरा अनुकरण
न होगी असुविधा
दोनों पहुँचेंगे
उत्तुंग शिखर।

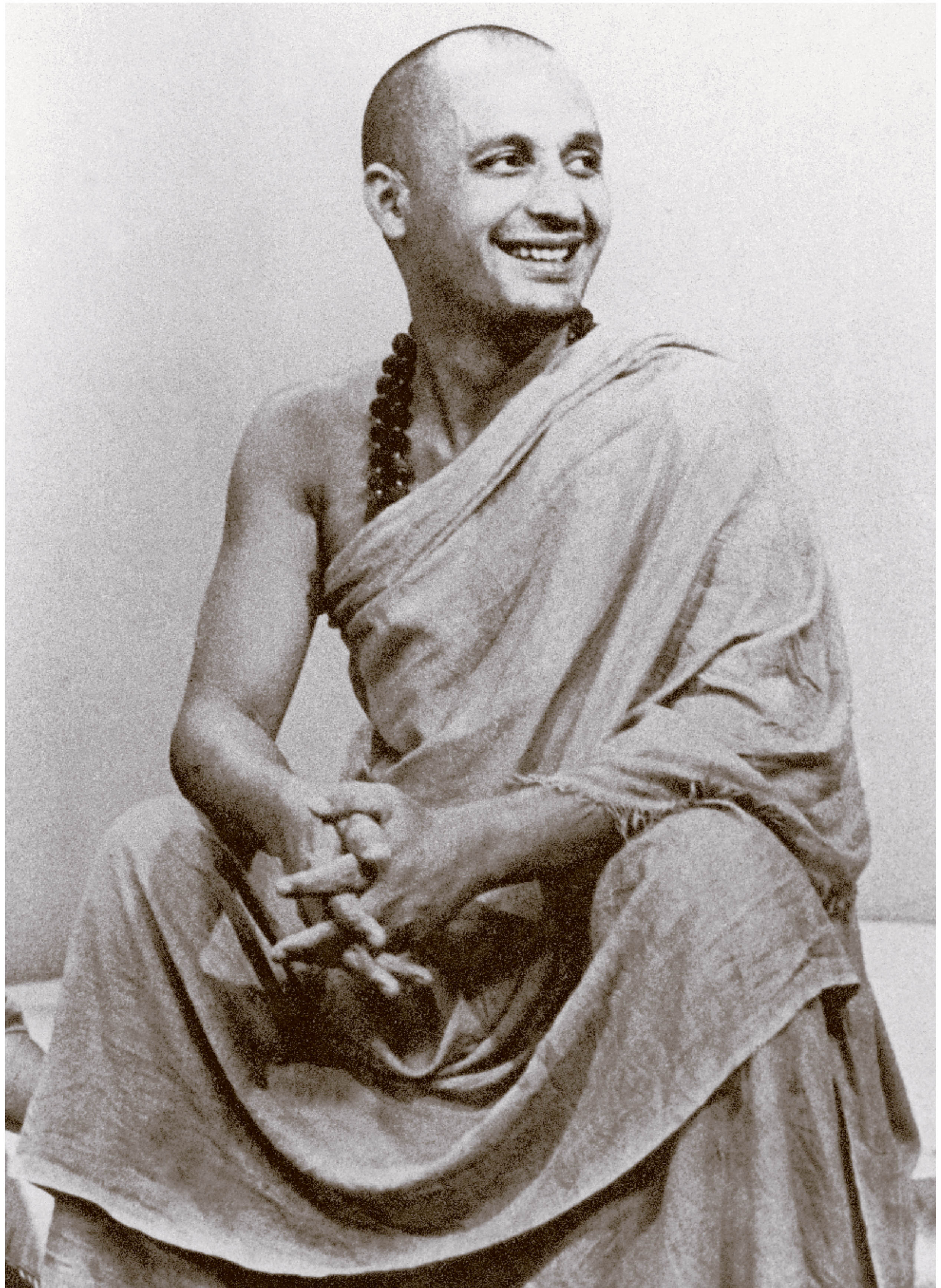
शुरू हुई यात्रा
गुरु ने कहा
चलो इधर से,
मैं चलता,
रुको वहाँ,
मैं रुकता,
काल बीता
सफर चलता रहा।

मैं जान गया
कुछ गुर,

सोचा कब तक
सुनूँ लंगड़े की बात।
उसने कहा रुको
मैं चलता रहा

ठोकर खा टकराया
चोट लगी मुझे
वह तो संभल चुका था।

तब से खा ली है
कसम
वह चलाता
मैं चलता हूँ,
वह घुमाता
मैं घूम जाता हूँ
वह गुरु
मैं चेला।



आनन्द की खोज

वह आनन्द क्या है
जिसे मैं खोज रहा हूँ?
दौड़ जीतना तो नहीं,
बल्कि असफलता का परिचय पाना,
क्योंकि इसी के द्वारा मैंने दौड़ना सीखा है।
संदेहों से भयभीत नहीं होना है,
क्योंकि इन्होंने ही मुझे दिखाया
कि कहाँ पथ संकीर्ण है –
निकल पाना दुष्कर है।
जब भी क्लान्ति और पीड़ा ने घेरा
अपने चतुर्दिक फैली शक्तियों के माध्यम से
मैं अपनी क्षमता-वर्धन के
मार्ग ढूँढ लेता हूँ
विश्व-संरचना की पंक्ति में
चकित, विस्मित, पुलकित।



देवी कुल-कुण्डलिनी

वह है पूर्णानन्दमयी, सुख-
दु:ख है उसके पास कहाँ
विमल मरीचि शरत् चन्द्र की
फैली है सर्वत्र जहाँ

उद्‌भव, पालन, प्रलय-बीज की
बनी हुई पावन-माला
कम्बु-कुण्डली ब्रह्मद्वार में
लगा रखी निज-फण-ताला

सत, रज, तम के तीन आवरण
डाल रखे हैं ऊपर में
शीत-भीतवत् मस्त पड़ी है
त्रिगुणित-पट के भीतर में

यही वही है शक्ति जिसे
सारी दुनिया है ढूँढ रही
मदोन्मत्त-कस्तूरी-मृगवत्
इतस्तत: है सूँघ रही

अब भी ज्ञान नहीं है उसको
गंधमयी यह शक्ति कहाँ छिपी हुई है
जल में, थल में
नभ में, या फिर और कहाँ

ओ मानव! कहते जिसको तुम
सरस्वती, लक्ष्मी, काली
उद्‌भव, पालन, प्रलयकारिणी
जग-जननी, खप्परवाली

ज्योत्सनामयी, शिवा, सर्वाणी
रुद्राणी, सर्व मंगला
चण्डी, कात्यायनी, भवानी
जगदम्बा, गौरी, बाला

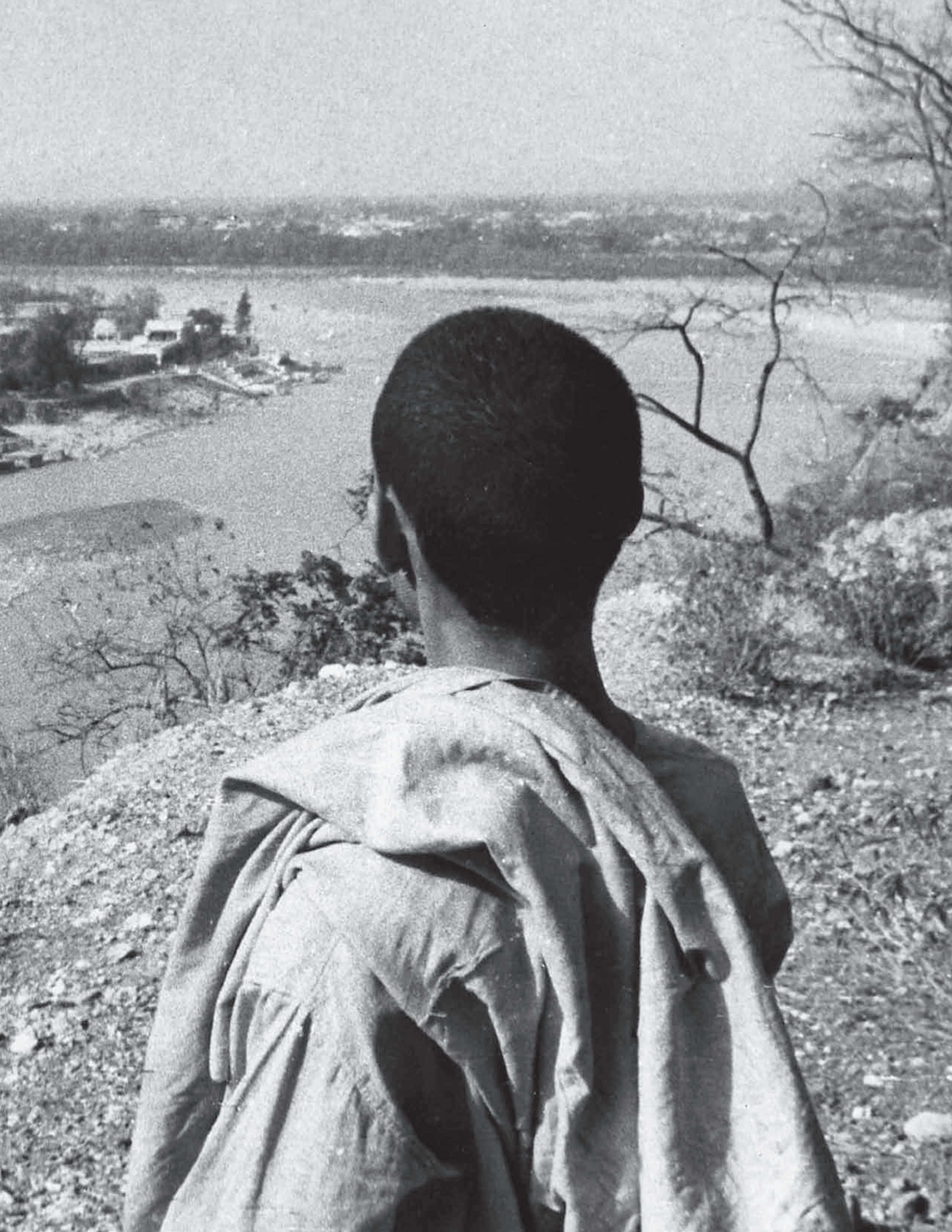
सदा विराजित मूलाम्बुज पर
भासित विद्युन्मण्डलिनी
कहलाती है अखिल विश्व में
वह, देवी कुल-कुण्डलिनी

उसे ढूँढते बाह्य-जगत् में
वह तो तेरे अन्दर है
मृदुल-तल्प है नहीं वहाँ
पर, निद्रित कितनी सुन्दर है

जन-जीवन के चरम लक्ष्य को
यदि तुमको भी पाना है
निरालस्य हो सतत् यत्न से
इसको साध जगाना है

जागृत होती नहीं कभी यह
तन-गत मलिन विचारों से
शुद्ध-तत्त्व आच्छादित रहती
कफ वातादि विकारों से

अत: प्रथमत: योग मार्ग का
अवलम्बन आवश्यक है
आसनादि से गात्र विनिर्मल
करना परमावश्यक है।



तुम्हारे चरणों में

जिसके व्यक्तित्व के रेशे-रेशे से तुम परिचित हो
जिसकी ससीमता पर
तुम्हारी असीमता ने अपना वरदहस्त रखा है,
जो तुम्हें अपना अंगी बनाकर गौरवान्वित हुआ है,
वह जीव-विहंग तुम्हारे चरणों पर पड़ा है।
एक बात कहूँ –
शायद कभी अज्ञानवश
गत संस्कारों के पंख लगाकर
कभी पीछे की ओर उड़ चलूँ
तब तुम भस्म कर देना मेरे पंखों को
जैसे शिव ने कभी भस्म किया था कामदेव को।
पंखकटी चिड़िया की तरह
जब मैं तुम्हारे चरणों पर गिरूँ
तो उठा लेना मुझे
गौतम बुद्ध बनकर
जिन्होंने आप्लावित कर दिया था घायल हंस को
अपनी करुण दृष्टि से।

तुम्हारे ही प्रकाश से
मेरा जीवन-मार्ग प्रकाशित होता है
मेरे मन का अंधियारा मिटता है
अविद्या की अनगिनत पर्तें अनावृत होती हैं
और उखड़ने लगते है डेरे
संभ्रम के, भय के
जो जन्म-जन्मान्तर से अभागे जीवन साथी
बने हुए थे।
मैं कैसे कहूँ कि तुम क्या हो?
शब्द बड़े प्रभावहीन हो गये हैं
बुद्धि बहुत छोटी लगने लगी है
तुम्हारी विशालता के सामने
मेरा मौन ही तुम्हारा वंदन है,
मेरे मन का नीरव संगीत ही तुम्हारी आरती है।
अगर कभी सुनो उस संगीत को
तो एक ही स्वर मुखरित होता पाओगे
स्वर मेरी आस्था का,
जो कह रहा है कि –
एक पग भी मैं आगे बढ़ूँ
तो दस पग आगे बढ़कर
तुम मुझे स्वीकार कर लोगे।



शक्ति जागरण

प्राणायाम परायण होकर
नाड़ी शुद्ध बनाने से
'क्रियायोग' अभ्यास-शील हो
मुद्रा बन्ध लगाने से

बलशाली बन प्राण-प्रभंजन
स्पन्दित होता अति-चंचल
तब होती है जाकर पैदा
मूलाम्बुज पर भी हलचल

कुण्डलिनी-जागरण सहायक
ये हैं कतिपय प्राणायाम
भास्कर-भेदी उज्जाई
शीतली, भस्त्रिका इनका नाम

पूरक, कुंभक, रेचक इनके
तीन भेद बतलाते हैं
इन्हें सिद्ध कर 'योगी' इनमें
मुद्रा बन्ध लगाते हैं

तभी हस्त-गत होती है वह
प्रलयंकरी महामाया
दे जाती अक्षुण्ण सम्पदा
सिद्धि मूर्ति शंकर-जाया

नश्वर जग के जिस रहस्य में
मानव था अब तक विभ्रम
स्वत: भेद-पट खुल जाता
फिर रहता नहीं कभी संभ्रम

तब हृदयाम्बर-तमस्विनी का
नाश स्वयं हो जाता है
उसके निर्मल चिदाकाश में
ज्ञान अरुण उग जाता है

प्राणायाम गुणोपम सहचर
बन्धत्रय हैं अति सुन्दर
मुख्य बन्ध है मूल बन्ध
फिर उड्डियान और जालंधर

इन तीनों के महत्तेज से
तन बद्धित जब होता है
महाशक्ति जागरण-कर्म का
'श्री गणेश' तब होता है

योगी सिद्धासनासीन के
मूलबंध से वायु अपान
आकुंचित हो ऊर्ध्व-पथ पर
शनै: शनै: करता उत्थान



आत्म ब्रह्म

निस्तब्ध निशा में
पद्मासनासीन
शांत, सरल, निश्चल, मौन
सोऽहं में अहं को मिटाकर
चित्त के अनन्त आकाश में उड़े चला वह
समुज्ज्वल स्वर्णिम किरणों से
विस्तृत यह चिदाकाश
अ, उ और म के सामंजस्य से प्रतिध्वनित
ॐ...ॐ...ॐ...
ध्वनि तरंग-वृत्त उसके प्रत्येक रग, प्रत्येक प्राण पर
अमृत की अमरता
चन्दन की शीतलता और अखण्ड आनन्द की वर्षा कर
उस शून्य में विलीन हो जाती जिसका न ओर न छोर है
ध्यान के उच्चतम सोपान पर
सहसा वह चौंक गया
वह ध्वनि
प्रतिध्वनित हो ज्योति रूप में
समग्र व्योम में व्याप्त थी
अद्‌भुत प्रकाश
अनुपम शब्द संघात
अजस्र परिश्रवित सुधा...
आनन्द विभोर वह
दर्शन किया 'ॐ' के प्रकाश से
आत्म ब्रह्म का
तब...
उसका अपना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड
परम आलोक से आलोकित था।



अलबेली सरकार का अजायबघर

यह संसार चमन है
जहाँ किस्म-किस्म के फूल-पत्ते, पेड़-पौधे
और बेल खिले हैं
सबकी अपनी बहार
अपनी खूबी
कोई चोर है तो कोई दाता
कोई ब्रह्मचारी है तो कोई व्यभिचारी
कोई खूनी है तो कोई अहिंसक
इसमें हर किस्म के नमूने
भरे पड़े हैं
यह अलबेली सरकार का
मनोरम अजायब घर है
बच्चे!
तुम सिर्फ नजरें घुमाते जाओ
नफरत के साथ नहीं हैरत के साथ देखो
हम सब फूलों को
और
फूलों के बनाने वाले का शुक्रिया अदा करो



आत्मानन्द में विसर्जन

उत्तुंग शिखर पर होते जब शांति और संतुलन
तब कल्पना ही नहीं स्वप्न भी खरे उतरते
और निद्रा समाधि का पर्याय बन जाती

प्राय: मन होता है मन्द, विचलित
शैल शिखर से ऊँचे भी चढ़ता, पर
अगले क्षण वही कीचड़ उलीचता

साधना वैराग्य का प्रतिपल
बनता सविकल्प समाधि, एकाग्रता का फल
और मन, आत्मा से तदाकार
हो जाता है शांत, निर्मल, अविचल

संस्कारों में लिपटा-चिपटा मन
जब आत्म-गरिमा का परिधान पहनता
क्रमश: समाधि के द्वार खुलते

और यहीं जब सत्य का होता जागरण
कहलाती यह सम्प्रज्ञात समाधि
मैं कहूँ इसे दर्शन

स्थिति है यह मन के दिव्यत्व की
जहाँ मन दैवी बन जाता है, पर कभी-कभी

सम्प्रज्ञात समाधि के बाद भी
वृत्तियों के झंझावत उमड़ते
मन की अस्थायी अवस्था के कारण
और साधक लौट आता है

अत: दर्शन के बाद भी उत्कर्ष हेतु
साधक! हो यत्नवान
स्थिर हो मन सम्प्रज्ञात समाधि में
करोगे तब निर्विकल्प समाधि में प्रवेश

जहाँ तुम बैठोगे स्वयं के आनन्दागार में, तब
वृत्तियाँ कहाँ? मन कहाँ? संस्कार कहाँ?
सब आत्मानन्द में विसर्जित हो जायेंगे
और कर्म ब्रह्मार्पित हो जायेंगे।



आत्मबोध

कई बार मन करता है कहने को,
कि – गाड़ी, ड्राइवर और पैसेन्जर
तीन अलग तत्त्व हैं
मगर हमने समझने में,
हर बार गलती की है
और
गाड़ी को ही ड्राइवर
गाड़ी को ही पैसेंजर समझ लिया
तब हुआ यह कि –
गाड़ी दुर्घटना ग्रस्त हो गई

प्रलोभन की दुनिया में
कल्पना के पंखों पर
मन उड़ा, उड़ चला
औ' ले चला मुझे भी
अपनी उड़न तस्तरी पर बैठाकर
तभी तो गिरा मैं
विपत्ति के महाकाश में
अनेकों ठोकरें लगीं
अनेकों यातनायें मिली
अनेकों दु:ख सहे।
अनेकों जीवन देखे
अनायास तब
हो गया आत्मबोध
गहन अंधकार
मिट गया सारा
जीवन-जग उत्फुल्ल हो उठा
अहा! क्या था वह
दुनिया की सभी चीजों से
अनुपम, दर्शनीय, न्यारा।

तब कुछ आभास-सा मिला
और
मैं सोचने लगा
मैं एक्सीलरेटर नहीं हूँ
मैं ब्रेक नहीं हूँ
मैं स्टेयरिंग नहीं हूँ
मैं ड्राईवर नहीं हूँ
मैं इंजन नहीं हूँ
मैं कार को ले जाने वाला भी नहीं हूँ
तो फिर मैं कौन हूँ?
चिदानन्द रूप: शिवोऽहम्, शिवोऽहम् ।





स्रष्टा की त्रिगुणात्मिका सृष्टि का रहस्य
अ, उ और म का संयोग
'ॐ' मंत्र
सूक्ष्म सूत्र, व्यापक ब्रह्माण्ड का
प्रतीक
त्रिदेव, त्रिकाल, त्रिशक्ति और त्रिलोक का
क्षिति, जल, तेज, वायु
अम्बर का अद्‌भुत समन्वय
उदय, अस्त और संध्या का अनन्त प्रवाह
क्या द्वैत, क्या अद्वैत
क्या साकार, क्या निराकार
क्या आस्तिक, क्या नास्तिक
सर्वात्मसत्ता का एकमात्र अवलम्ब
अत्र, तत्र, सर्वत्र अ, उ और म
'ॐ' का परिव्याप्त परिमल प्रकाश
मैं देख रहा था
उस अनन्त में अन्त को समाहित होते
उस आलोक में लोक को प्रविष्ट होते
उस अकाल में काल को न्योछावर होते
आन्दोलित हो उठा मन-मानस
और सहसा मैं
अनायास कहता गया ... कहता गया...
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म... ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म...



निर्भय बनो

योगशक्ति – व्यक्ति के अन्दर प्रसुप्त योग-प्रतिभा का अद्‌भुत प्रतीक
पड़ी है मूलाधार की चहार-दीवारी में बन्द
कुण्डलिनी के रूप में
हे साधक!

यदि तुम्हें उस महाशक्ति का साक्षात्कार करना है
यदि तुम उसके अजस्र कृपा-वर्षण से
आप्लावित होना चाहते हो
निर्भय बनो

योगशक्ति का साक्षात्कार भयी नहीं, निर्भय करता है
लोक-अलोक का भय
दृश्य-अदृश्य का भय
स्थूल-सूक्ष्म का भय
प्राप्ति-अप्राप्ति का भय
राग-द्वेष, जीवन-मृत्यु का भय
भय के संस्कार, योगशक्ति के जागरण में विघ्न हैं
भय एक मान्यता है, व्यक्ति की कुण्ठा है
अत: हे साधक! पूर्ण निर्भय बन सको तो इस मार्ग पर चल
नहीं तो अभी भी समय है – लौट जा, एकदम तुरन्त लौट जा
मक्खी से डरने वाला शेर की माँद से नहीं गुजरेगा
मानवीय विडम्बनाओं, नश्वर मान्यताओं, मूर्ख भावनाओं से काँपने वाला
अपार्थिव, अविनाशी, ज्ञानमय लोकों में कैसे ठहरेगा
बच्चे! जब सर पर पत्थर बरसे – अडिग रहना
लोक-अलोक के प्रभाव पीटें – अटल रहना
कीचड़ में कमल बनकर जीना
शिरीष वृक्ष की तरह मस्त अवधूत!
यदि चलना हो तो चलो इस मार्ग पर
जिसमें कोई सहारा
सिवाय अपनी आत्मा के नहीं मिलेगा
कह दो अपने संस्कारों से HANDS UP !



कैलास यात्रा

दुनिया तीरथ जाती है तो जाने दो
बेचारों को सन्तोष चाहिए
राहत और परिवर्तन चाहिए
पर तुम कहाँ जाओगे
कहाँ है द्वारिका, कहाँ है हरिद्वार
ईंटों के मकानों में, दीवाल वाले मन्दिरों में
या मोटर कार वाली गलियों में
या फिर वहाँ, जहाँ तुम्हारे प्रभु रहते हैं

जाओ, मानसरोवर के किनारे कैलास है
वहाँ रहते हैं भवानी-शंकर
जहाँ से निकली हैं – गंगा, यमुना और सरस्वती
जो इस मार्ग पर जाता है
उसे छः मुख्य तीर्थ मिलते हैं
पाँच संगम और सभी ऋषि मिलते हैं
यह मार्ग नीचे से ऊपर की ओर जाता है
यहाँ न कोई राजा गया आज तक, न रंक
क्योंकि छूरे की धार की तरह है
कैलास का पन्थ
मैं गया हूँ वहाँ
मैंने अकेले ही मानसरोवर के दर्शन किये
हंस को मोती चुगते देखा
क्या तुमने भी देखा है
मैं दूसरे कैलास की बात कर रहा हूँ
जो सब के अन्दर है।



आत्मा को जगाओ

समाधि का बीज तुम्हारे अन्दर विद्यमान है।
तुम उस बीज को
पूर्ण वृक्ष के रूप में
ध्यान के द्वारा विकसित कर सकते हो।

मेरी आत्मा का विस्तार
प्रात: काल तथा रात्रि में
अपने बच्चों की ओर होता है
जो उस समय
खाली मन और ग्रहणशील होते हैं,
वे मेरी आत्मिक धारा को ग्रहण करते हैं
और अनन्त चेतना के समुद्र में
विलीन हो जाते हैं।

इस समय भी तुम मुझे
अपने अन्दर बुला सकते हो,
लेकिन व्यक्तिगत अहं का भाव
दूर करके
और अधिक पवित्रता प्राप्त करनी होगी।

थोड़े-बहुत प्रेम से काम नहीं चलेगा।
अविरल और मदहोश
प्रेम करने वाला प्रेम चाहिए –
चैतन्य, मीरा और राधा के प्रेम की भाँति।
अपनी प्रेमशील और अपनी भक्तिशील
आत्मा को जगाओ।

समय आने पर तुम्हारे व्यक्तित्व का कण-कण
सत्य की आत्मा के उतरने
तथा निवास करने का
आधार बन जायेगा।
तब तुम उच्च की सूक्ष्म चेतना से
परिपूर्ण होकर
बड़े अद्भुत कार्य करोगे।
तथा अपूर्व वाणी बोलोगे।





प्रभु का रूप

प्रभु का रूप कितना मोहक होता है
कौन कहेगा यह सत्य
प्रभु के आगमन की सुगन्ध
कितनी दिव्य होती है
उनके आने का स्वर सुनो – बम्-बम् या हर-हर
नूपुर के स्वर सुनो और मृदंग भी
क्या विचित्र और अनोखा दृश्य है
किसका मन इसमें नहीं रमेगा?

पर अन्त में सब शान्त
केवल वे ही रहते हैं वहाँ
'मैं' भी नहीं रहता
तब कुछ पता नहीं चलता
क्या है और क्या नहीं है
चारों ओर घना अन्धकार
मध्य में ज्योतिमण्डल सजग

फिर आँखें खुलती हैं
तो सारा संसार लहरा उठता है
असार गहरा होता है
और मैं फिर से मृत्युलोक में आ गिरता हूँ



गुरु-मुख बनो

शिष्य सो रहा था
गुरु ने उसे जगा दिया
गुरु का शब्द शिष्य के हिय में पैठा
तो दिव्य दृष्टि उजागर हो गई
तब से नींद नहीं आ रही है
आँखें दिन-रात खुली रहती हैं
नित्य सुबह गुरु के चरणामृत से नहाता है
तो उसके सन्ताप और पाप
क्षणमात्र में धुल जाते हैं
उसने गुरु के चरणों की रज को
माथे पर धारण कर लिया है
उसे सुमति आ गई है
प्रेम का प्याला पीकर वह बौरा गया है
उसे कुछ भी नहीं सुहाता

चेला ऊँचे महल पर चढ़कर
शून्य के मण्डप पर बैठा है
वहाँ सूरज, चाँद, तारे, बिजली और आग
किसी की भी पहुँच नहीं
चलते रहने वाला वहाँ पहुँचेगा
थकने वाला बैठ जायेगा
बिना 'गुरु-मुख' शब्द के नहीं चल सकेगा
घिसट-घिसट कर कोई वहाँ नहीं पहुँचेगा
रोते-धोते कोई वहाँ नहीं पहुँचेगा
सच्चा और अच्छा चेला वहाँ पहुँच जायेगा
कच्चा और लुच्चा नीचे ठेला जायेगा
समझे कुछ, क्या?



तीर्थ यात्रा का पथिक

तीर्थ यात्रा का अनन्त मार्ग
चारों ओर निर्जन सन्नाटा।
पथिक जा रहा था ठीक मार्ग पर
किन्तु–अविश्वासों से पीड़ित,
भय से जर्जर, थकावट से चूर-चूर
भूखा, प्यासा और अकेला था वह
परन्तु...
अब वह अकेला नहीं है...

•

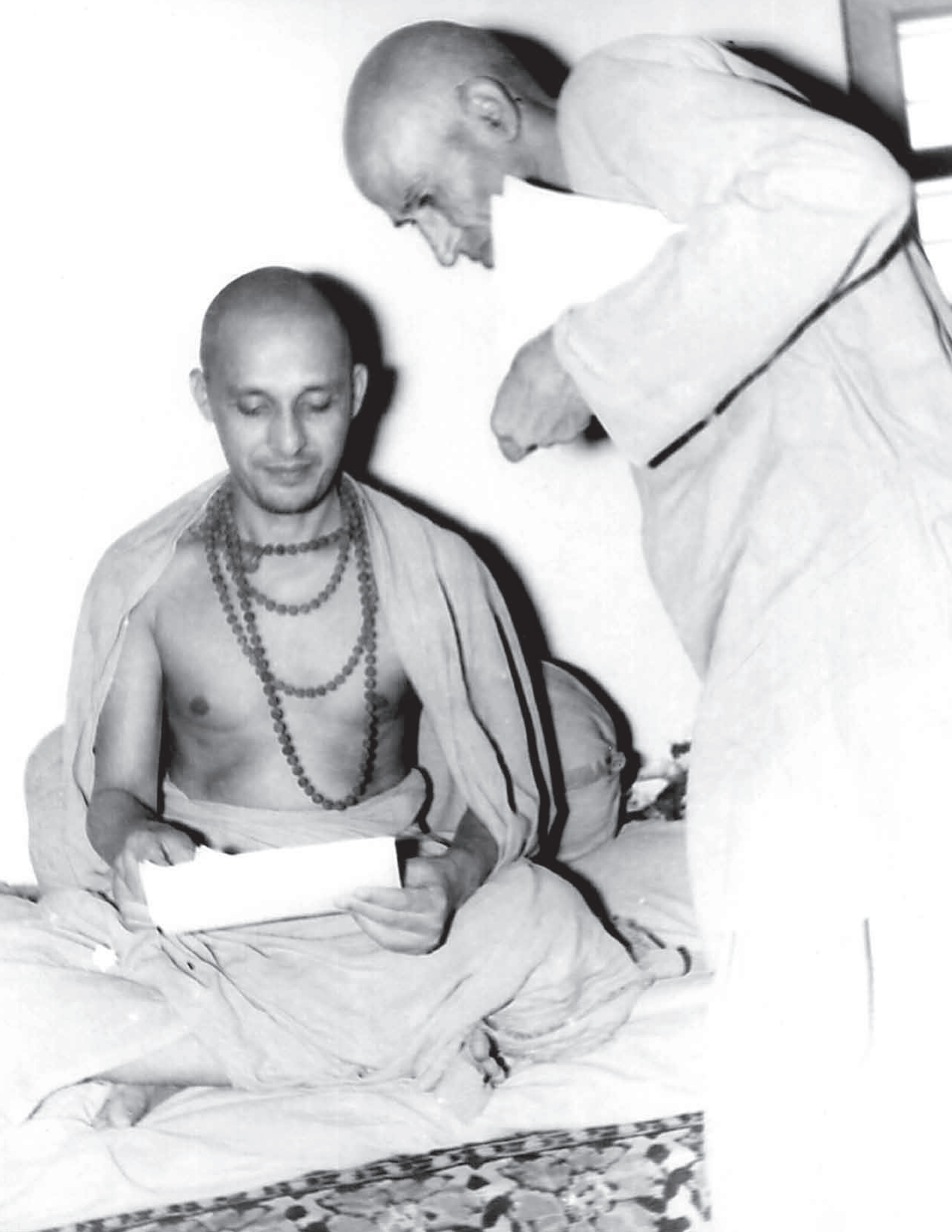
एक अथाह सिन्धु
उसमें नौका तैर रही थी,
यात्री एक ही था
अब न नौका एक है न यात्री
न अब तूफानों का डर
न बवण्डर का भय
कितनी ही दूर हो किनारा
इससे हमें मतलब?
क्योंकि न नौका अकेली है न यात्री अकेला
बहुत कुछ पूर्व में हुआ
बहुत कुछ तब हुआ
शेष अब हो रहा है
अंधकार के अभेद्य प्रकारों से
ज्योति उजागर होने लगी है
कहीं-कहीं रोशनी आ गई है
कहीं-कहीं अँधेरा है
परन्तु मैं कहता हूँ ज्योति जागती जायेगी
और अंधेरा मिटता जायेगा...



गुरु की प्रतीक्षा

गुरु ने शिष्य को चलने के लिए कहा था
शिष्य ने 'आऊँगा' कह कर गुरु को आगे भेज दिया
और स्वयं बैठा रहा, बैठे हुए के साथ रमता रहा
गुरु ने बहुत दूर जाकर प्रतीक्षा की
शिष्य न आया
वह दूसरे मार्ग पर चला गया था
रात हो गई, सबेरा हुआ, गुरु वापस
वहाँ देखा चेला न था
खोजा बहुत, अनेकों में खोजा
अनेकों-अनेकों में खोजा
चेला न मिला ...

सूर्योदय हुआ, सूर्य ऊपर चढ़ा
सहसा चेला पकड़ में आ गया
पर वह हाव-भाव, वेश और नाम सब बदल चुका था
संग बदल चुका था, रंग बदल चुका था
ढंग बदल चुके थे और उसके अंग भी बदल चुके थे
गुरु ने पहचाना भी
पर करता भी क्या
परदेश तो गुरु के विभाग से बाहर की चीज थी
गुरु को उसने नहीं पहचाना – क्योंकि
चेले का पथ दूसरा, शपथ दूसरी
रथ दूसरा और दिन भी दूसरा ...
गुरु ने तत्त्व के गीत गाये,
चेला ठेला गया।
गुरु ने सत्य को जगाया,
चेला और ठेला गया,
और कुछ याद आया
उस मार्ग का नजारा झलका।
एक स्वप्न-सा आया और गया,
पता नहीं कौन कहेगा चेला समझा कि नहीं...



जीवन का महामंत्र

मानव है एक पंछी
और उसकी उड़ान है जीवन।
जीवन की उड़ान से
ऐ मानव!
तू मौतरूपी उत्तुंग, भयानक
और विकराल पर्वत श्रेणियों को पार कर ले,
तू शिव और शक्ति को
आत्म-समर्पण कर दे।
वे तुम्हें आत्मशक्ति देकर
तुम्हारे डैनों में अमोघ शक्ति भर देंगे,
फिर न तू जीवन से थक जायेगा, और
न ही मौत से हार खायेगा।
तू अविरल गति से
ईश्वर के उन्मुक्त साम्राज्य में विचरण करता रहेगा,
अनन्त युगों तक
अमृत के अमृतमय उत्संग में खेलता रहेगा।
आ,
मैं धीरे से
आहिस्ता से
तेरे कानों में जीवन का महामंत्र फूकूँगा
वह मंत्र है – 'त्याग'।



अध्यात्म जीवन की कुंजी

दु:ख जब असह्य बन जाये, तब समझना कि दु:ख की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके हो, और सुमधुर प्रभात के आगमन में क्षण भर की भी देरी नहीं है।
यदि सत्य का भार उठाना है,
असत्य और अधार्मिकता का नाश कर सत्य धर्म की नींव जमानी है तो अपनी पाशविक वृत्तियों को पवित्र बनाओ।
यही अध्यात्म जीवन की कुंजी है, जिसे पाने से सुख और शान्ति आपके अनुचर बन जायेंगे।
आलस्य शरीर का विकार है, असावधानी प्रहरी का विकार है,
कुलटापन स्त्री का विकार है और कृपणता दानी का विकार है।
किन्तु एक विकार इन सबसे निकृष्ट कोटि का है – वह है अज्ञान।
सबसे निकृष्ट कोटि का विकार।
हे बच्चों, इस विकार को दूर फेंको और निर्विकार हो जाओ।



पट खटखटाये जा रहा हूँ

गीत गाये जा रहा हूँ,
जानता कुछ भी नहीं पर
सुर मिलाये जा रहा हूँ।

मोह के भ्रम जाल में पड़
मैं सभी कुछ खो चुका हूँ,
मग नहीं पहचानता पर
पग बढ़ाये जा रहा हूँ।

मूर्ति हो या निरा पत्थर
ज्ञान कुछ भी है नहीं,
ध्यान किसका, ध्येय क्या है,
भान कुछ भी है नहीं।
कुछ नहीं तो शंभु पर मैं
जल चढ़ाये जा रहा हूँ।

सिन्धु क्या है, बूँद क्या है,
जन्म मोती का कहाँ है?
नाम कुछ गुण-रूप कुछ
भेद कुछ तो है यहाँ।
खुला हो या बन्द हो पट
खटखटाये जा रहा हूँ।

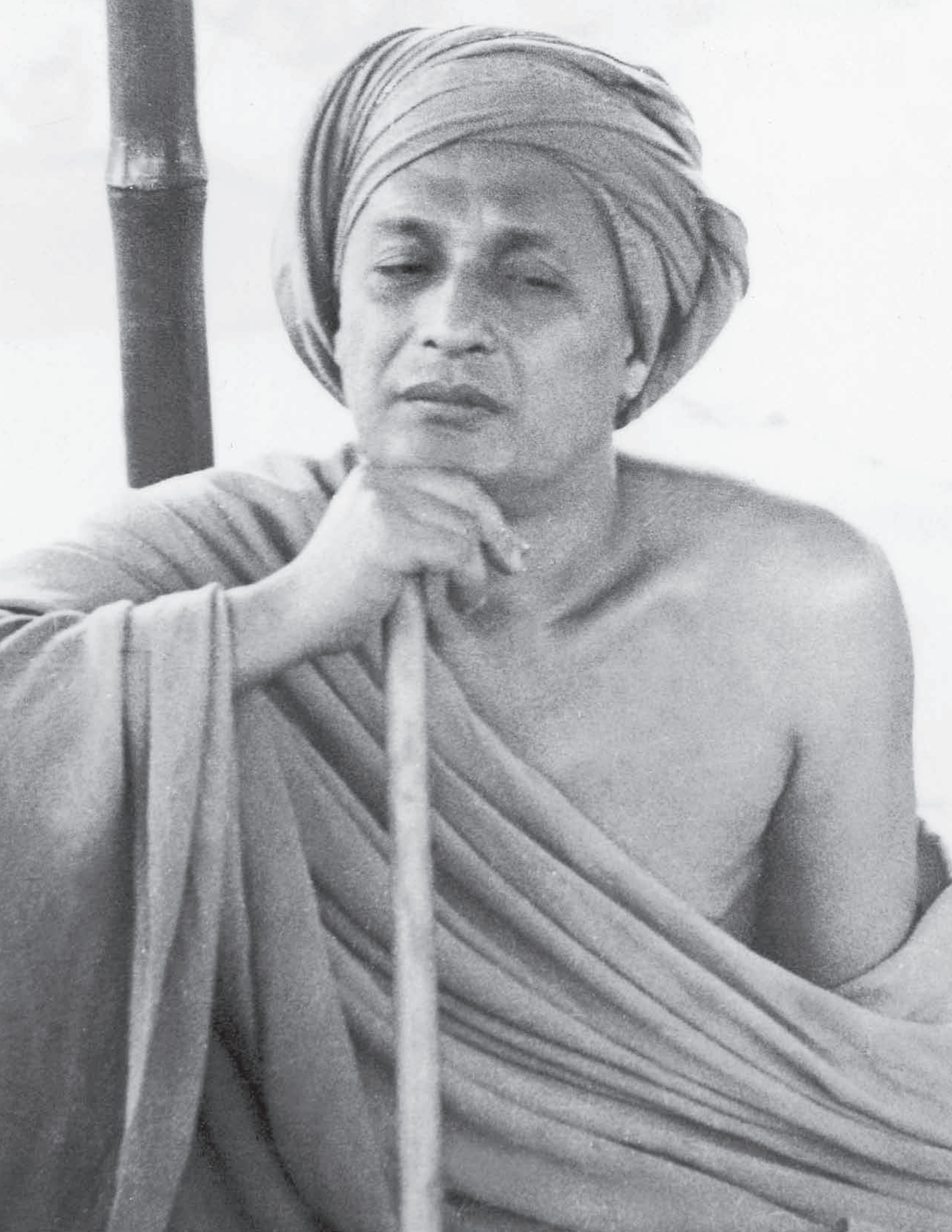


बँधनों से ऊपर उठो

नाम बदलेगा, अजपा बदलेगा,
सुरति बदलेगी, निरति बदलेगी,
इस रहस्य को पहचानो।

माया मन का भाव है,
माया विचारों का रूप धरकर आती है
और साधक का उत्साह भंग करती है।
अत: साधना की पकड़
किसी भी हालत में नहीं छोड़ना,
मन अच्छे-बुरे सुझाव देता रहेगा।

योग की शक्ति तुममें है
जो साधना से प्रकट होगी।
साधना भर करना तुम्हारा काम।
सत्य का स्वरूप एक भी और अनेक भी
अपनी दृष्टि बदलो, विचार बदलो
स्वमानित सुख-दु:ख के बँधनों से ऊपर उठो,
क्योंकि आत्मा इन सबसे अछूता और परे है।



सत्य का स्वरूप

जीवन का विकास कुछ ही कोणों तक सीमित रहा,
न हिन्दू मुसलमान बन सका, न मुसलमान हिन्दू,
न गृहस्थ संन्यासी बन सका, न संन्यासी गृहस्थ,
किसी ने सत्य को सत्य बताया, किसी ने असत्य
किसी ने कहा एक, किसी ने कहा अनेक, तो किसी ने कहा–नहीं।

खोजते-खोजते हम खोते गये,
जैसे-जैसे हम जानते गये, वैसे-वैसे अज्ञानी बने।
जैसे-जैसे सुव्यवस्थित संस्थाओं ने जीवन को सजाना चाहा,
वैसे-वैसे सत्य का असली स्वरूप धूमिल होता गया।

आज सदियों की खोज के बाद भी,
कई सुव्यवस्थित धार्मिक संस्थाओं की परम्परा के बावजूद भी,
सत्य का रहस्य खुल नहीं सका।
आज हमें इस पहेली को सुलझाना है,
अब हम सत्य के ऊपर चढ़ी हुई उन परतों को उतारेंगे,
और देखेंगे सत्य का वास्तविक स्वरूप।

इतना तो हम समझ रहे हैं कि सत्य महान् है, न कि निकृष्ट,
सत्य पवित्र वरदान है, न कि कलंक और अभिशाप,
सत्य सरल, सादा और पवित्र है, न कि जटिल।
सत्य विशाल है, कण-कण में ओत-प्रोत और अणुप्राणित है,
सत्य व्यापक है और आत्मनिष्ठ भी
उसके ऊपर चढ़े आवरण तो आडम्बर-दम्भ-पाखंड की परतें हैं।

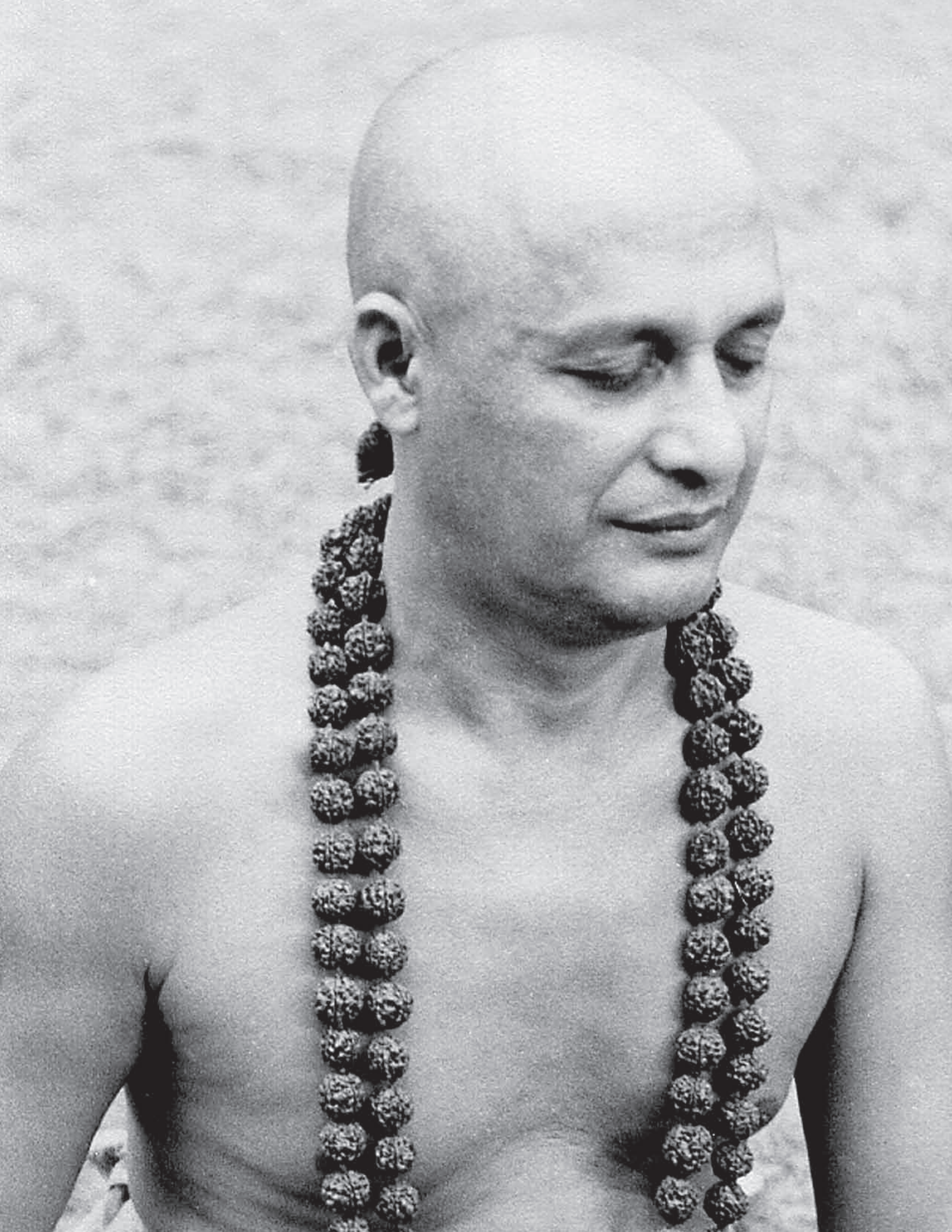


आत्मा का मिलन

ओ, मेरे बालक!
दु:ख और कष्ट के गह्वर से ऊपर उठो,
मैं तुम्हें जगा रहा हूँ,
किन्तु, तुम कहाँ चले गये थे
इन्द्रिय समारोहों में?

तुम्हारी आत्मा सदा मेरे साथ है
और मैं उसके साथ।
हम लोग उच्च तत्त्व की बातें कर रहे हैं,
शरीर की नहीं, जिसमें सर्वव्यापकता की शक्ति नहीं है।
तुम्हारी आत्मा और मेरी आत्मा,
समय और दूरी का व्यवधान रहते भी एक हैं।

इसका मतलब दो को मिलाकर एक करना नहीं है।
सहज समझ और साधना के द्वारा
तुम्हें अलग करने वाले तत्त्वों को उखाड़ फेंकना है
और जब दीवार हट जायेगी, आवरण हट जायेगा,
अज्ञान मिट जायेगा और विच्छेद छँट जायेगा।
तब?
आत्मा के प्रकाश में, लबलबाते हुए प्रेम में
तुम भूल जाओगे कि कौन-कौन है –
क्योंकि सरिता समुद्र बन जाती है
और जीव ब्रह्म बन जाते हैं।



अपूर्ण जीवन

देवों पर मनुष्य ने विजय पायी
समुद्रों को उसने पार किया, उसकी गहराई खोजी
आकाश की असीमितता को नापा
प्रकृति के तत्त्वों को पहचाना
धर्मों को धारण किया और दु:खों पर विजय पायी
जीवन और मृत्यु के दोनों किनारों को
जीवन की कड़ी से जोड़ा – देवत्व को पहचाना,
लेकिन अनन्त जीवन अपूर्ण है और उसकी आशाएँ असन्तुष्ट
मृत्यु उसका अन्त है और जन्म उस मृत्यु का अभियान
जीवन के लिए मरण है और मरण के लिए जीवन
न धर्म, न कर्म, न योग, न विज्ञान, न मंत्र, न तंत्र
कुछ भी नहीं जो जीवन को पूर्ण बना सके
आत्मनिष्ठा जीवन के नाम पर, योगनिष्ठा जीवन के नाम पर
मानी गई पूर्णता भी बंधक-पुत्र के समान सम्पन्न और शिक्षित है।

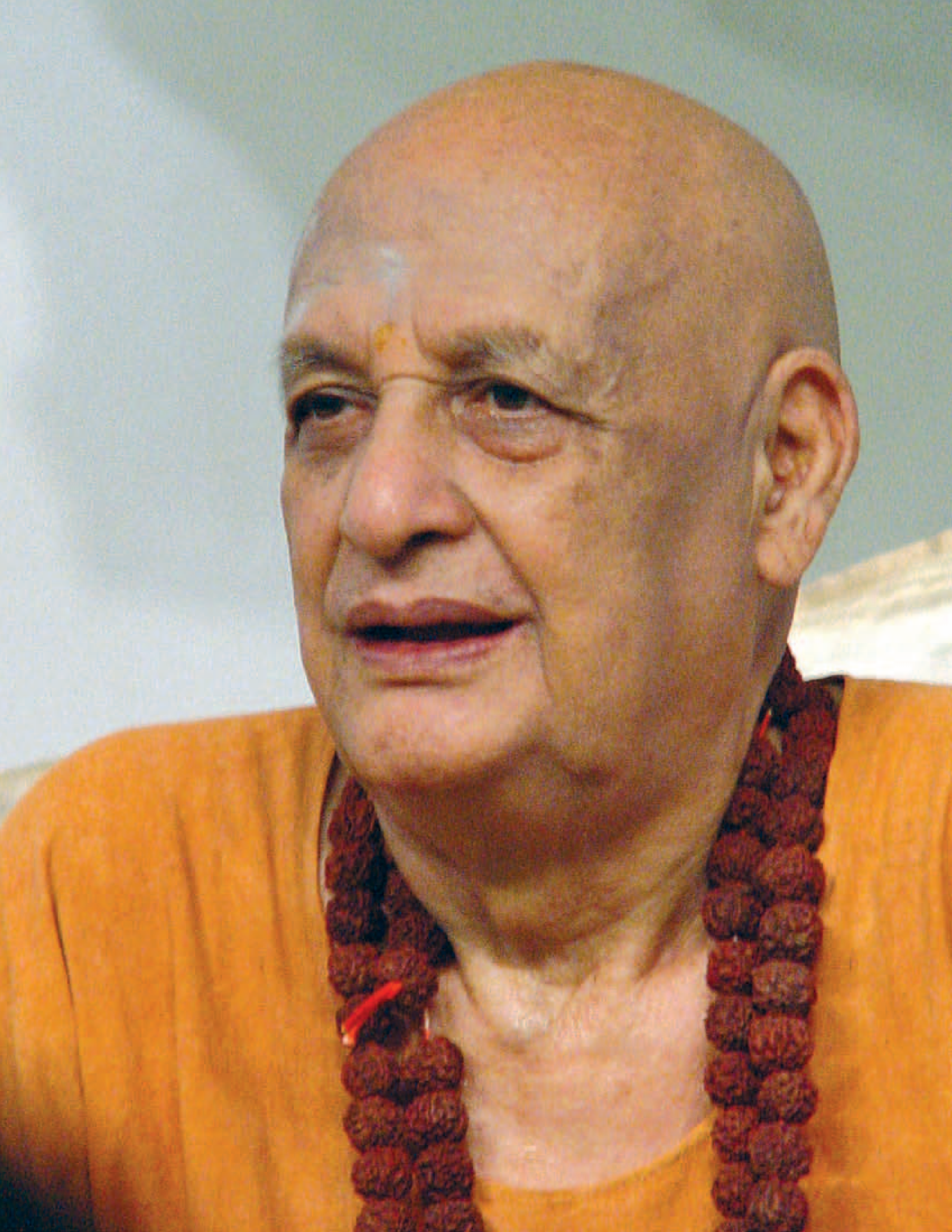


साधना और कर्म

साधना के मार्ग में निष्कर्मण्यता, अर्थात् कुछ नहीं करना
बहुत बड़ी बाधा है।
निरन्तर बाह्य रूप से भी कर्म करते रहना चाहिये
अन्यथा चेतना अंधेरे लोकों में लौटने लगती है।
मन विषयों में रमने लगता है,
कार्य नहीं करने से अचेतन अवस्था सी आने लगती है।

इसलिए प्राचीन कालों में आश्रमों की व्यवस्था हुई थी,
इसलिए चेला लोगों को रगड़ा और तपाया जाता है,
ध्यान की सफलता और जीवन की पूर्णता के लिए कर्म जरूरी है।
बाह्य कर्म यदि रोक भी दिये जायें तो भी
मन के सूक्ष्म कर्म होते ही रहते हैं।

अतएव साधना के मार्ग में
बाह्य और आन्तरिक कर्मों में संतुलन आवश्यक है।
चाहे तुम धनोपार्जन के लिए निष्काम कर्म करो
अथवा नाम, यश के लिए कुछ भी किया जाये,
वह तो कर्म का आधार है, प्रयोजन नहीं,
इसे समझो और कर्म में जुट जाओ।



निर्लेप बनो

संसार में रहना गुनाह नहीं,
गुनाह है संसार को अपने में रखने में।

जैसे हम नाव में बैठकर नदी पार करते हैं
पर नाव से रंचमात्र भी आसक्ति नहीं रखते।
वैसे ही संसार में रहकर तमाम कर्मों का निर्वाह करो,
पर आसक्ति मत रखो।

जैसे हम सड़क पर चलकर तीर्थयात्रा करते हैं
पर सड़क का मोह नहीं रहता,
वैसे ही संसार में रहते हुए हमें
संसार का मोह नहीं रखना है।

जिस तरह यात्री सराय में रहकर
अन्य यात्रियों से मिलता-जुलता और हँसता है,
वैसे ही हमें भी अपने हमराहियों से दोस्ती निभानी है।
न ये हमारे, न हम इनके।

अरे भई! यह तो भाड़े की नाव है।
कभी इस पार तो कभी उस पार।



यह जीवन

यह जीवन तो निसेनी का एक डंडा मात्र है,
उसमें ही रमे रहने से मंजिल दूर रहेगी
वासना वालों के लिए यह जीवन अतृप्ति का मंदिर है।
कामना वालों के लिए यह जीवन निराशा की कन्दरा है।
ईश्वर भक्तों के लिए यह जीवन
ईश्वर की ओर ले जाने वाला पथ है,
ज्ञानियों के लिए यह जीवन बदलते हुए मूल्यों का बण्डल है,
विरक्तों के लिए यह जीवन धूल मात्र है,
असंयमी लोगों के लिए यह जीवन जलती और दहकती हुई आग है
डरपोक के लिए यह जीवन पाप की गठरी है
और
योगी के लिए यह जीवन चित्तशुद्धि का उपाय है।





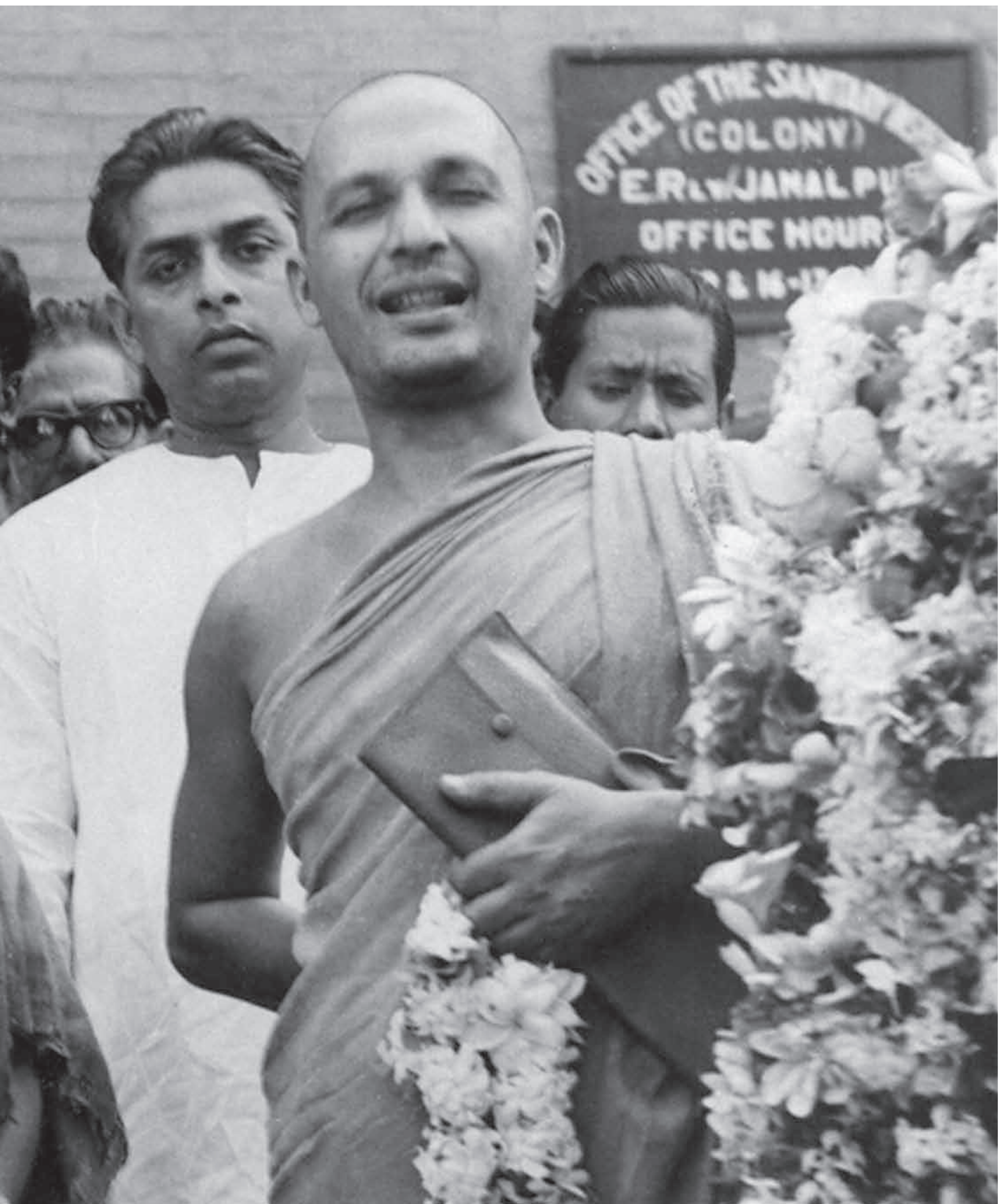
संन्यासी के प्रति

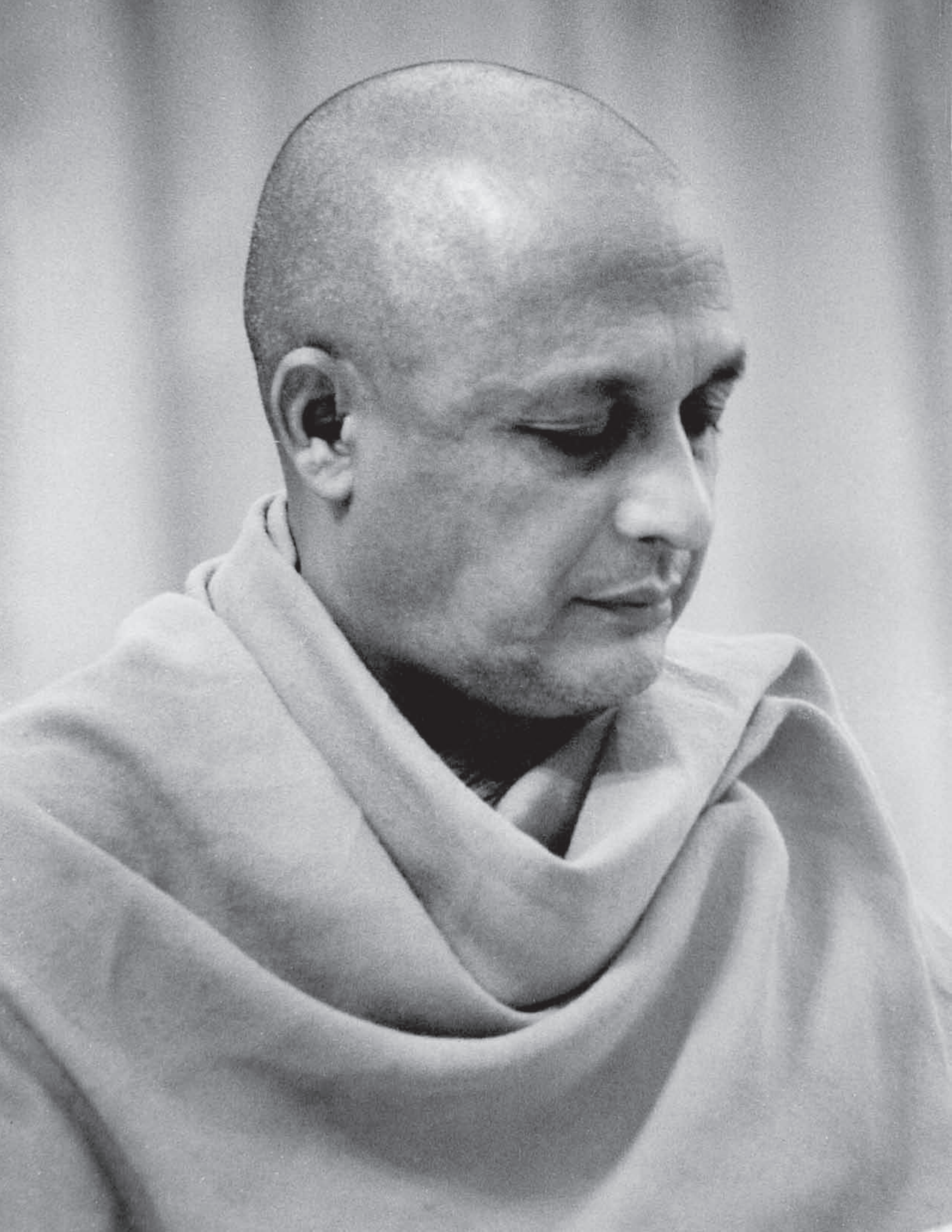
लोग आध्यात्मिक ज्ञान की गहराई में
गोता लगाने को व्याकुल हैं,
पर उनका कोई मददगार नहीं।
मानव का आध्यात्मिक विकास अब रुकेगा नहीं,
लोगों में समर्पण और स्वतंत्रता की चाह बढ़ी है।
तुम उनका सम्बल बनो
उन्हें इस महान् यज्ञ में दीक्षित करो
करोड़ों के लिए चलने की ठान लो,
अनेकों की खुशी के लिए
अनेकों के मार्गदर्शन के लिए
अनेकों के उत्थान के लिए – बढ़े चलो।
ज्ञान-दान को भौगोलिक नक्शे की चारदीवारों में मत रुकने दो,
धार्मिक मत-मतान्तरों के वाद-विवाद,
राजनैतिक और सैद्धान्तिक विचारों के बन्धन,
किसी को रास्ते का रोड़ा न बनने दो।
ऊँच-नीच, जाति-भेद और रंग-रूप का विचार
यह सब संन्यासी के लिए नहीं है।
न सफेद, न काला, न पीला, न भूरा,
बस पीड़ित मानवता के लिए चलते रहो निरन्तर...

जीवन को स्वीकारो

'मा ते व्यथा मा च विमूढ़ भावो'
कुण्ठा, निराशा, व्यथा
जीवन में स्वप्न की झाँकियाँ हैं।
जो सफलता के सपने संजोते चले
वे पराजय का भोग करते रहे
मैंने जीवन को जैसा मिला,
स्वीकारा बाहर से
तुम भी जीवन को जस का तस स्वीकारो
संघर्ष से प्रगति होती है
किन्तु व्यथाएँ भी विपुलित होती हैं
योग का मार्ग पकड़ो पहले
तब जीवन का अधिकार पाओ
जिस रास्ते अरबों रोते गये
उस रास्ते कौन हँसते जायेगा, और कैसे?
तुम या मैं...?




OFFICE OF THE
(COLONY)
OFFICE



परम लक्ष्य

आवागमन का यह क्रम कब तक
क्या मैंने अपनी गरीबी के बावजूद भी
तुम्हें सब कुछ नहीं दिया?
भगवन् !
मेरे पास स्थूल की पिटारी है
जिसमें सड़े-गले और मैले-कुचैले फल पड़े हैं।
तो, फिर दूँ तो क्या?

अजीब पहलू पर खड़ा हूँ
आखिर तुम चाहते क्या हो?
मेरे पास है भी क्या
मेरे जो कुछ भी हो, तुम ही हो
मुझे संसार के सपने नहीं चाहिए अब
अब तो केवल दिन-रात
तुम्हें ही देखने को जी चाहता है।

यही एक मात्र सत्य है
इसे पाकर कुछ शेष नहीं रहता
यही तुम्हारा परम लक्ष्य है
बेटे,
हर क्षण जागते रहो...।



असत्य से सत्य की ओर

यह मार्ग असार है
वह मार्ग सार है
यह अनित्य है
वह नित्य है
यह असत्य है
वह सत्य है
परन्तु
असत्य से सत्य के पथ आने के लिए
कुछ दूर असत्य पथ से ही वापस चलना होगा
और
असार से सार पर पहुँचने के लिए भी
कुछ दूर असार पर ही चलना होगा
क्योंकि भटके हुए को सही मार्ग पर आने के पहले
कुछ काल तक विमार्ग से ही वापस आना पड़ता है
यही मैं कहता हूँ – कि
'वहाँ' पहुँचने के लिए यहाँ भी चलना होगा
और
यह भी कहता हूँ –
आगे नहीं पीछे की ओर लौटो...।



मैं केवल द्रष्टा हूँ

तुम मुझे भगवान क्यों कहते हो?
क्या मैं जानता हूँ मंगल में क्या हो रहा है?
क्या मैं ही हूँ कारण – ये चाँद सितारों की जगमगाहट का,
क्या मैं रोक सकता हूँ – सूर्य के उदय-अस्त के आगमन की इस
परिधि को,
क्या मैं पवन के झोंकों को बाँध सकता हूँ,
क्या मैं समुद्र की लहरों को रोक सकता हूँ,
ये नौ महीने में जनमते शिशु, दस महीने में जनमते बछड़े
इक्कीस दिन में जनमते मच्छड़ – क्या मुझसे पोषित हैं?

वृद्ध की क्षीण काया का मैं मात्र दर्शक हूँ,
क्या कुछ कर सकता हूँ उन गिरते दाँतों के लिए?
क्या मैं हूँ उस जलती हुई चिता का कारण,
क्या मैं रोक सकता हूँ उन उड़ते, बिछुड़ते प्राणों को
उस मृत्यु शैय्या पर
मेरी सीमा की असीमितता में?

मैं जब अन्दर देखता हूँ कुछ दिखता नहीं वहाँ
मैं जब ऊपर देखता हूँ कुछ समझ नहीं पाता
जन्म-मृत्यु का राज खोल नहीं पाता
मैं तुमको जीवन दे नहीं सकता
मैं तुम्हारी मृत्यु को रोक नहीं पाता
मैं तो केवल द्रष्टा हूँ, सबों का



आशीर्वचन

लोग माने या न माने,
अणु युग के बाद आने वाला है
योग-युग।
अन्यथा मानव न तो जीवित
रह सकता है न शान्त।
समस्याओं का मूल अशान्त मन है
उसके कारण खोजे गये हैं।
पर मूल तक ऋषि ही पहुँचे हैं।
अर्थ व्यवस्था आदि व्यवस्थाएँ
स्थूल कारण हो सकती हैं,
किन्तु निदान इनके पास नहीं है।
विश्वास न हो तो युग-घटनाओं को देख लो
और आगे भी देखते जाओ।



जीवन में पराग निखरेगा

निरंजन पराग,
तुममें जीवन है, सौरभ है,
और सुन्दरता का स्पन्दन है,
अवश्य इसे देते रहना।

पर पराग दूषित न हो जाए,
सतत् सतर्क रहना।

जीवन एक फूल है,
सत्यम्, मंगल, सुंदर,
इसमें सुगन्धि है,
पराग इसी में से बना है।

पशुता के आघात से यह असमय बिखर गया!
मस्ती में डोल रहा था,
कोई फूल के साथ ही इसे मिटाकर चला गया।

जीवन के पराग में नया जीवन है,
इसमें से अनेक जीवन पनपेंगे।
इसे संभाल कर रखना।

संयम, शील, सौजन्य
जीवन के पराग हैं,
परहित, करुणा, अनुकम्पा
इसे नवजीवन की बयार पहुँचाती है।
आत्म साधना से
पराग की विस्तृति, अमृति होती है।

मानव समाज में ईश्वर को खोजो,
कुष्ठियों, अन्धों, लंगड़ों को समझो,
प्रिय निरंजन पराग,
तुम विश्व को सुन्दर बना सकोगे।



जिन्दगी का लक्ष्य

जिन्दगी गुलाब है
उसे पाने के लिए, काँटों से
उलझ कर जाना होगा।
जिन्दगी सर्प की मणि है
उसे लेने के लिए विषधर से लड़कर
आगे बढ़ना होगा।
जिन्दगी चन्दन है
अत: सुवास के लिए
वृक्ष को काटना ही होगा
यही लक्ष्य लेकर जीओ।



नव संन्यासियों से

संन्यास पूर्ण साधना है
बहिरंग अन्तरंग दोनों
अहंकार रहित चैतन्य प्रकट होता है
चैतन्य प्रकाशित होता है।

संन्यासी की साधना कैसी
देखते रहना है
करना नहीं।

योग-साधना संन्यासी के लिए
स्थूल साधनाएँ हैं
सूक्ष्म का मैल इनसे छँटता नहीं
और न सद् वस्तु का बोध होता है।

सबसे पहले आश्रम प्रवेश करो
दीर्घकाल तक सेवा व्रत धारण करो
और अपने को छोटा और हल्का बनाओ।

संन्यासी के लिए न कोई साधन
और न कोई साध्य।
वहाँ तो तुरीयावस्था की भी गिनती नहीं
क्योंकि समरसता को पाना है।

चैतन्यावस्था सनातन है
उसका न उदय है न अस्त –
वह जानी नहीं जा रही –
केवल इस समस्या को सुलझाना है।

शिखा सूत्र का त्याग
पूर्वाश्रम-संगों का त्याग
जाति, कुल, धर्म के अभिमान का त्याग
ये स्थूल लक्षण हैं

संन्यास की अवस्थाएँ अपने आप प्रकटती हैं
सेवा-व्रत से ढक्कन खुल जाता है।
गुरु-तत्त्व संन्यास का रहस्य है।

बुखार उतरते कुपथ नहीं करना
संन्यास लेने पर भी कुपथ नहीं करना
अलग रहना संग-विवर्जित होकर
विवाह श्राद्ध अन्त्येष्टि से पृथक् –
इसका अर्थ समझना कठिन है।

संन्यास साधना फल जाए
तो समझो
इतिहास और समाज पवित्र हो जाएँगे
एक संन्यासी एक युग का निर्माता होता है
और एक दर्शन का द्रष्टा –
और परम्पराओं का अगुआ।

पवित्र संकल्प लेकर
संन्यासाश्रम में दीक्षित होओ।

श्रद्धा का केन्द्र

श्रद्धा का केन्द्र वही हो सकता है
जो नित्य हो, सर्वव्यापक हो, सर्वश्रेष्ठ हो
सर्वकला संपन्न हो
और साक्षात् सत्यं, शिवं, सुन्दरं
तथा अब तक अदृश्य हो
श्रद्धा का एकमेव आधार – ईश्वर है
क्योंकि वह अपने से भिन्न नहीं है







जीवन का आधार

अपने-अपने कर्मरूप धर्म का आचरण करने वाले को सिद्धि मिलती है,
ऐसा विद्वानों और अनुभवियों का मत है। इसलिए,
यदि जीवन नाटक है
तो तुम उसके एक सुन्दर अभिनेता बनो,
यदि जीवन सराय है
तो तुम एक अच्छे यात्री बनो,
यदि जीवन है उपवन
तो तुम उसकी बहार का आनन्द लो,
और, यदि जीवन स्वप्न है
तो तुम प्रियकर, रुचिकर एवं मंगलमय स्वप्न देखो।
यदि जीवन क्षणिक है, तो क्यों तुम उसके क्षणों का पूर्ण उपयोग नहीं करते?
जीवन कुछ भी क्यों न हो – हमारा उसके प्रति कुछ कर्त्तव्य है।
यदि हम इसमें चूकते हैं तो जीवन को अपने नियंत्रण से कोसों दूर भागा हुआ पाते हैं।
लौकिक कर्त्तव्य मनुष्य और जीवन का मिलन-कुंज है,
व्यवहार और परमार्थ के बीच का समझौता है
और, जीवन का मूलभूत आधार है।



तू मिल गया

पहले सोचता था –
तू स्वर्ग में रहता है
मैं पृथ्वी पर।
बाद में सुना –
तू मंदिरों में भी रहता है
एक दिन क्या हुआ –
कि मैंने तुझे अपने सामने देख लिया।
तब से तेरे और पते भूल गया हूँ।



नव पल्लव

छोटे बच्चे, छोटे अंकुर
उन्हें सुरक्षा मिलनी चाहिये
और विकास के साधन
आश्रम जीवन
बच्चों के लिये
जरूरी है
अनुशासन की शिक्षा
नियमित जीवन
स्वतंत्र वातावरण
वैज्ञानिक दिनचर्या –
ये सभी उनके
व्यक्तित्व के विकास में
सहायक होंगे।



अंतर-गीत

यह बाहरी भवन है
इसमें उन्नीस साज बज रहे हैं।
अन्त: भवन में चलिये
उन्नीसों की प्रतिध्वनियाँ लहरा रही हैं।
अन्तरतम भवन में आइये
यहाँ न साज है,
न उसकी झंकार
निस्तब्ध है इस भवन की आत्मा
चौथा भवन नहीं है।
तीसरे भवन का द्वार खोलकर
उस ओर निकलिए –
अपारावार क्षेत्र में
वहाँ कोई सनातन गीत गा रहा है।



अभिलाषा

वस्त्रहीन शरीर और खाली हाथों के साथ
घूमने दो मुझे गंगा के पावन तट पर
मेरे होठों में शिव का नाम,
मेरे मन में देवी और दुर्गा का ध्यान
मुझे ज्ञान भी न हो कि मैं हूँ
और जब बुलावा आए तो मुझे
ज्ञात भी न हो कि जा रहा हूँ।



त्याग, भोग और योग

यशोधरा का त्याग बुद्ध के त्याग से श्रेष्ठ है। उसकी तपस्या पूर्णत: निष्काम रही। बुद्ध की साधनाचर्या का एक उद्देश्य था।
वह अनन्त पथ पर चली, चलती गई,
वे चले और निर्वाण पाते ही ठहर गये।
बुद्धचर्या की भूमिका में विकल्प रहे, विचित्रताएँ, भ्रम और अपूर्णता रही।
यशोधरा की तपस्या सनातन प्रकृति की गंभीरता की पार्थिव छटा थी, जो जीवन का नियम है।
बुद्ध ने घर छोड़ा,
वह घर पर ही रही।
उन्होंने त्याग द्वारा निर्वाण पाया,
उसने न त्याग किया, न निर्वाण की अपेक्षा की।
स्त्री की सर्वश्रेष्ठ तपस्या यही है, क्योंकि उसमें चिरसंतोष है।
पुरुष तो स्वभाव से असंतोषी और विक्षिप्त विकारों का पिटारा है। उसकी कल्पना, साधना, कर्मठता और ईश्वर की भावना असंतोष की सतत् संस्मरणशील भूमि पर परिवर्तन को प्राप्त होते रहते हैं।
बुद्धचर्या भी कुछ ऐसी ही थी।
स्त्री सनातन स्थिरता है, युगों के परिवर्तनों को चुनौती देती आई है। निर्निमेष उसने अपने आराध्य को सृष्टि के शैशव में ही पहचान लिया। वह उस धारणा पर अचल रही, आज भी उसकी आराधना वही है, जो सृष्टि स्फुरण के समय थी।

यशोधरा त्याग और भोग के संघर्षों में सच या झूठ मानने वालों को चुनौती देती रही। अन्यथा वह भी उरुबेला में सघन जालों में फँसी रहती या फिर कपिलवस्तु के वैभव में अपने को भुला देती।

उसमें उस तपस्वी की धारणा थी, जो अपलक नेत्रों से अनन्त की वटी की ओर देखता रहता है – न सोचता है, न सोता है। अपना आराध्य अपने ही अंदर तो है।

क्या बुद्ध ऐसा कर सके?

क्या सचमुच किसी 'परम आनन्द' की खोज में बुद्धचर्या का अनुसरण करना सृष्टि के सनातन सिद्धान्तों के अनुरूप है?

अथवा यशोधरा को अपने अनन्त के विस्तार को 'त्याग' 'मोक्ष' और 'अहम्' की परिधि में ले जाना चाहिए?

सत्य तो यह है कि यशोधरा ने अनन्त बुद्धत्व को पाया अपने में ही और सिद्धार्थ मात्र गौतम रहे और सनातन साधना के पथ पर नहीं चल सके, खोजते रहे, पर पा न सके।



साधना

तुम प्रेम के प्रवाह हो
और मैं प्रेम का समुद्र हूँ।
तुम मुझमें मिलने को विकल हो
और यही तुम्हारी साधना है।
मुझे अपने में देखो
और अपने को मुझमें।
तभी तुम्हारे ध्यान में उतरूँगा।



साक्षात्कार

यदि कोई मेरी ओर अपनी आँखों से देखता है
तो वह उतना ही देखता है
जितनी उसकी देखने की शक्ति है।
यदि कोई मेरे विषय में अपने मस्तिष्क से सोचता है
तो वह उतना ही सोचता है
जितनी उसकी सोचने की शक्ति है।
क्योंकि आँखें शरीर देखती हैं और मस्तिष्क विचार।
तब उसको कौन देखेगा?
आँखों को मन में लीन हो जाने दो,
मन को चेतना में
और चेतना को साक्षात्कार में।

संत का क्षेत्र

विश्व का आधार योग है,
योग के आधार संत हैं,
सन्त परमेश्वर की विभूति हैं,
समस्त संसार संत का क्षेत्र है।





गुरु पूर्णिमा

तुम्हें दिव्यात्मा गुरुजनों के आशीष।
गुरुपूर्णिमा मंगलमयी हो।

आज प्रकाश-प्राप्ति का दिन है। सर्वत्र दिव्य ज्योति का प्रवाह है। उस अखण्ड ज्योति के दर्शन करो और अपने प्रियजनों को बतलाओ कि तुम उसे देख रहे हो। द्वार खोलो, वातायन खोलो और अन्त:पुर के हर कोने में दिव्य ज्योति को चमकने दो।

गुरुपूर्णिमा आत्मज्ञान का जन्म दिन है। इस दिन आशीर्वादों ने अभिशापों को पराजित किया। इस दिन हमें ईश्वरीय अनुराग मिला।

गुरुपूर्णिमा हमें हमारे कर्तव्यों की याद दिलाती है। यह आत्म-निरीक्षण का दिन है, जब दिव्य गुरु अपने शिष्यों से 'अन्त:पुर' में भेंट करते हैं।

पुन: आज के दिन से नवोत्साह जगावें। बीती बातें भूलें। अपने सत्संकल्प जगावें। उत्तरदायित्वों को पहचानें। बुराइयाँ छोड़ें। अच्छाइयाँ जगावें। त्वरित साधना चालू करें।

पानी बरस रहा है। नाम का बीज बो दो। हृदय खेत है, साधना जल। सत्संग की बाड़ी – घेरा। गुरु निराई करने वाला। भगवत्-कृपा इसकी फसल होगी।

संसार रूपी जानवरों से खेत बचाओ। साधना रूपी ताली बजा-बजाकर विक्षेप रूपी पखेरुओं को भगाओ। श्रद्धा की खाद डालो। मंत्र रूपी बीज छोटा है, पर फसल लाजवाब है। तुम किसान हो, चले चलो।

हे श्रद्धालु किसान, परिश्रमी हलवाहे, उठा साधना का हल और जोत मन रूपी खेतों को। खेती का पवित्र मौसम आया है। समय मत चूक।
मैं कहता हूँ।

मैं भी उत्तम बीज बोता हूँ। तुम अच्छी भूमि बनकर सौ गुना फल लाना। कहीं शैतान चुग न ले। कहीं बोने के बाद सूख न जाये, बल्कि गुरु वचन सुनकर भले और उत्तम मन में धीरज से फल लाये।

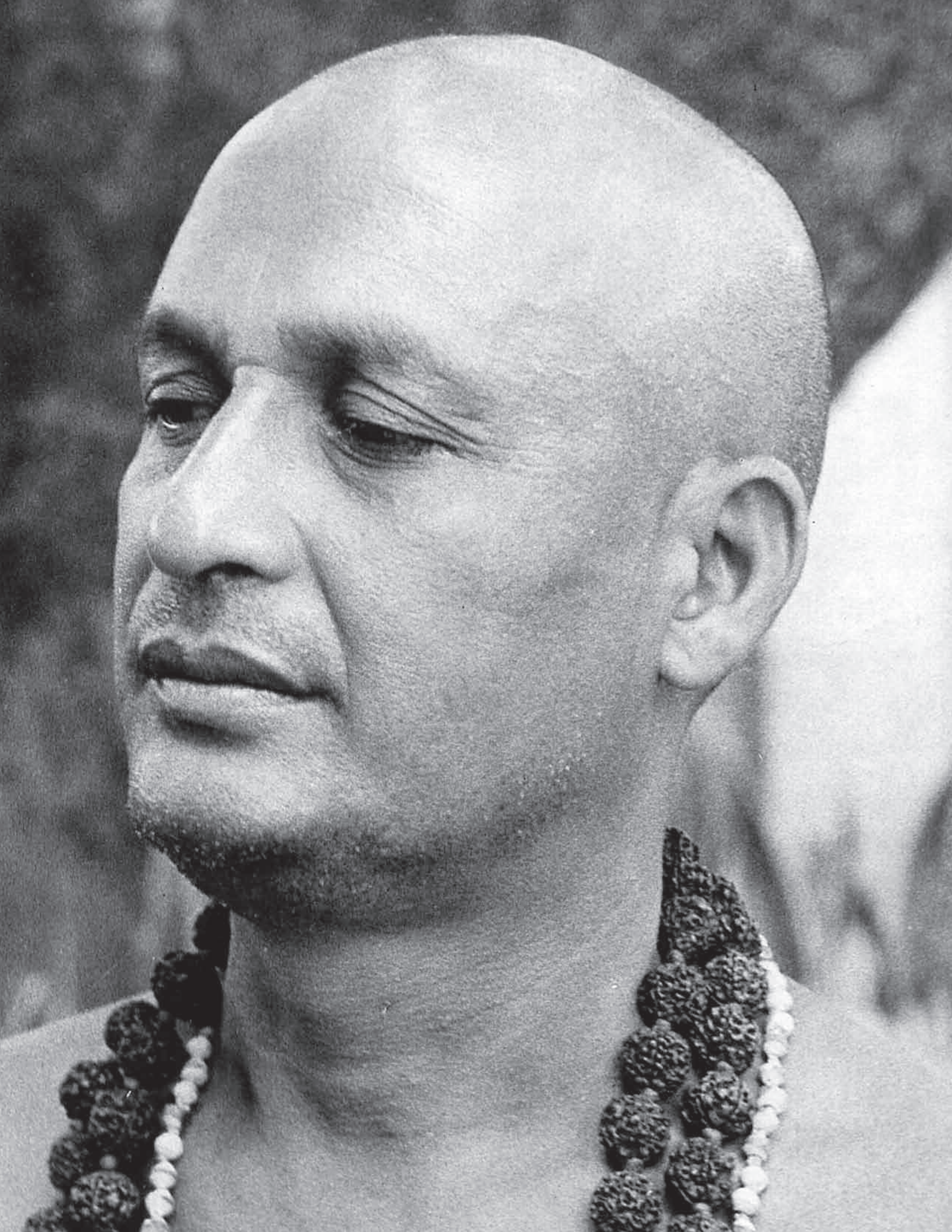
और, फिर तुमसे कहता हूँ कि भले और उत्तम मन वाले बनो कि गुरु का बीज सौ-गुना फल लाये।



वास्तविक जीवन

जीवन में कुछ भी स्थायी नहीं है। विचलित होना तथा असन्तोष, दोनों मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं। वे सरित-प्रवाह की भाँति बहती और भूत के गर्भ में तुरंत विलीन हो जाती हैं।

वास्तविक जीवन मन की सीमा के परे है। अनंत आनन्द मनसातीत है। मन तो विविध और विभिन्न सुखद और दु:खद भावनाओं का निवास स्थान है।



अर्पण

छन्द मेरे खुल चुके हैं, मैं गीत सारा लिख चुका हूँ।।

विश्व के सब ओर से, आज मेरे गीत उठते।
चन्द्र तारों की छटा में प्राण, मेरे दीप जलते।।

तार सारे हिल चुके हैं, मैं गीत सारा लिख चुका हूँ।।
छन्द मेरे खुल चुके हैं, तान में मैं रम चुका हूँ।।

वेद सारे गा चुके हैं, शास्त्र सारे लिख चुके हैं।
आज अपने ज्ञान के वे, प्राण सबको दे चुके हैं।।

भाल का सिन्दूर तुझको, दो फूल सुन्दर दे चुका हूँ।
छन्द मेरे खुल चुके हैं, मैं गीत सारा लिख चुका हूँ।।



शान्ति का मार्ग

न कर्मकाण्ड से, न श्राद्ध क्रिया से
न देवपूजन से, न तीर्थाटन से
न शास्त्राध्ययन से, न तितिक्षा तपस्या से
और न ही धर्म की बहिरंग साधनाओं से शान्ति मिलेगी।
शान्ति का मार्ग इतना लम्बा, पेचीदा एवं गोलमोल नहीं है।
तृष्णाओं का निवारण हो जाये
आलस्य चला जाये
दिल की आग बुझ जाये
सन्ताप की विभीषिका मिट जाये
और नपुंसकता का निराकरण हो जाये
तो शान्ति मिलती है।
पर निवारण हो, तो कैसे?
छोड़ो जीवन की उलझन को
हटाओ समस्याओं की विचारणा को
चलने दो जीवन को समतल भूमि पर
संघर्ष का प्रश्न लाओ ही मत
फिर देखो, जीवन का आनंद।



अन्तर पथ

सीधी बात सुनो
मन से मत लड़ो
उसकी शिकायत मत करो
वह तुम्हारा जीवन साथी है
तब तुम समझोगे
नया जीवन शुरू करो।

अध्यात्म की ओर खिंचाव अच्छा है।
किन्तु सोचने से क्या?
योगाभ्यास करो।
याने आसन-प्राणायाम-जप।
कर्मयोग से वृत्ति-सजगता आती है
खाली बैठने से वृत्ति-शून्यता।
वृत्ति-शून्यता तमस् का मार्ग है
वृत्ति-सजगता सत्त्व का।
विकास सबमें है,
ये विकास की सीमायें हैं
या ये बुराइयाँ नहीं
वे स्वयं छूटती जाती हैं
प्रयत्न करने की जरूरत नहीं।

जीवन में उन्नति के लिए
प्रयोजन एक,
अहर्निश एक ही बात सोचो,
एक काम में मन लगाओ
उसकी पूर्णता तक,
उसे कहते हैं धुन,
इसे समझो, करो।

हम लोग माध्यम हैं,
हम लोग यन्त्र हैं,
हमें उत्तेजित एवं आसक्त हुए बिना ही
प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम करना है,
हमें नि:स्वार्थ भाव से प्रत्येक की सेवा करनी है।
और
हमें ईश्वर से भी प्रेम करना है तो
बिना किसी अपेक्षा के।
हमारी आध्यात्मिकता का उद्देश्य
कामनाओं का सृजन नहीं
निष्काम होकर
उस दिव्यता का दर्शन करना है।

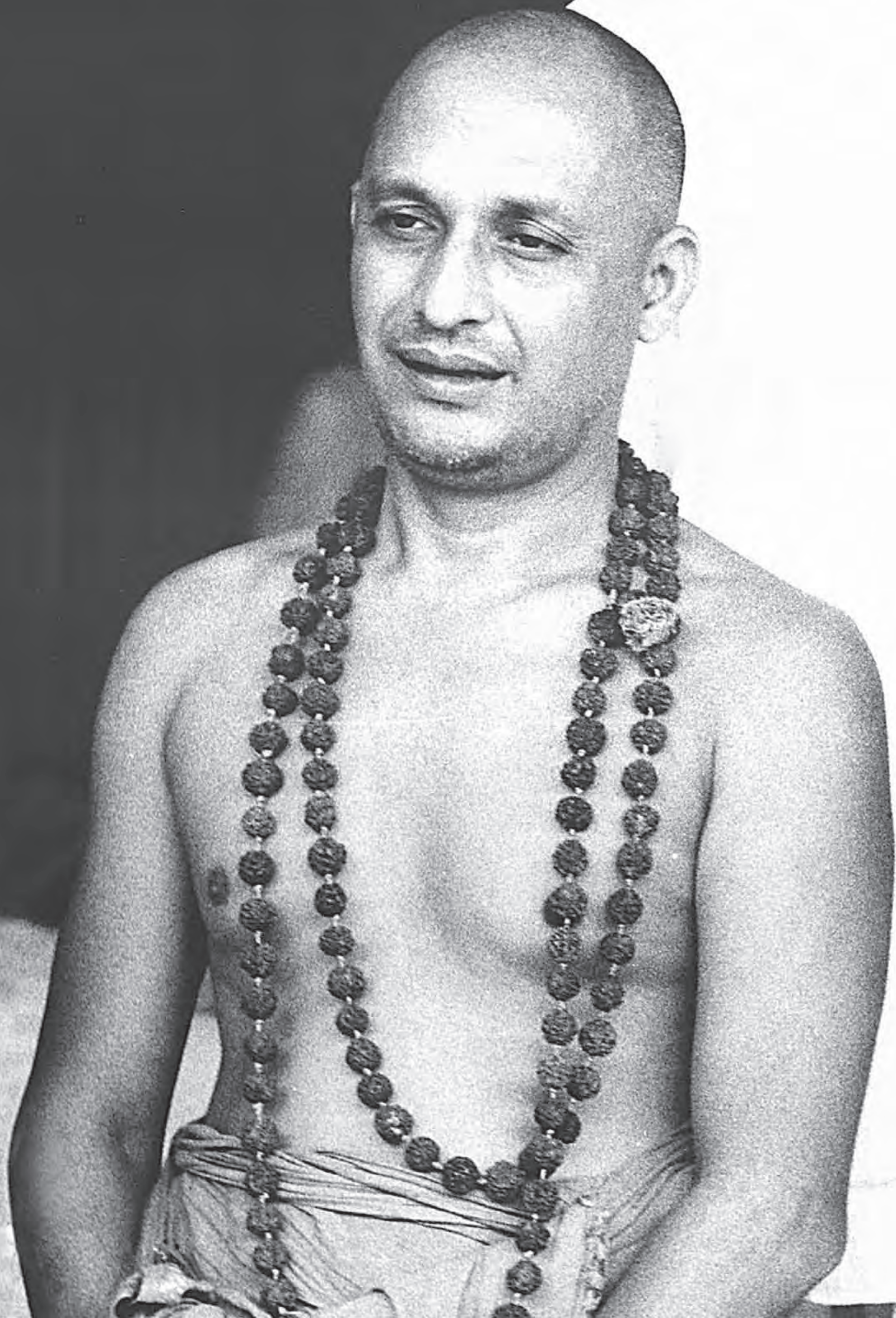
निन्दा के प्रतिकार का उपाय किसमें खोजना है?
जिसमें भय हो, नाम लिप्सा हो।
योग के साधकों को सफाई नहीं देनी चाहिए,
सफाई देने से उद्वेग होता है
प्रत्युत्तर प्रतिक्रियायें कमती नहीं
जो हमें जैसा समझे, समझने दो न,
हम तो चलते रहें अपने अन्तर पथ पर,
जो प्रभावित होंगे, तो किन कर्मों के वशीभूत होकर,
साधकों पर निन्दा का असर कैसा पड़ता है,
जानते हो?
वे निन्दक को ही दोष देंगे
यह सनातन है
इस पर माथा-पच्ची क्यों?
यदि कहने वालों की बात ठीक है, तो ठीक ही है।
यदि गलत भी है तो क्या हुआ?
परीक्षा हमारी-तुम्हारी सबकी।
केवल वही पास होंगे ऊपर की यात्रा में,
जो इस रहस्य को जानेंगे।



साधकों से

अच्छे रहने, खाने, पीने, घूमने, देखने से ही
जीवन का ध्येय पूरा नहीं होगा
मनुष्य बहुत बड़े काम की जिम्मेदारी लेकर आता है
पर यहाँ माया-ममता रूपी जीवन की विभीषिका में उलझकर
सब कुछ भूलता चला जाता है
और खाने, पीने, सोने में समय गुजार कर
एक दिन थका हारा सा लौट आता है

जो लिखा है समझना
अपने को तैयार करना
इस जीवन का पूरा लाभ उठाना जी।



तीर्थ यात्री

एक ओर सुख है, दूसरी ओर दुःख
एक ओर आनन्द, दूसरी ओर विषाद
एक ओर सत्य है, दूसरी ओर छल
एक ओर अन्धकार है, दूसरी ओर प्रकाश
जीवन के विश्लेषण दो प्रकार के हैं।

यह
जीवन विहंग के
दोनों ओर के पंख हैं।
सुख-दुःख,
हर्ष-विषाद,
सत्य और छल,
अन्धकार और प्रकाश के युग्म पंखों से
यह पल-प्रतिपल
अनन्त को नापने उड़ता जा रहा है।

जीवन सदा अग्रगति है,
स्फुरण है,
विकास है,
और
प्रकाश है।
यह अनन्त की ओर बढ़ते रहने वाला
आदिकालीन तीर्थ-यात्री है।



साधन संकेत

एक बोने वाला बोने निकला
बोते हुए कुछ मार्ग के किनारे गिरा
और रौंदा गया
कुछ आकाश के पंछियों ने चुग लिया
और कुछ चट्टान पर गिरा और उपजा
परन्तु तरी न मिलने से सूख गया
कुछ झाड़ियों में गिरा
और झाड़ियों ने साथ-साथ बढ़ कर
उसे दबा दिया
और कुछ अच्छी भूमि पर गिरा
और उगकर सौ गुना फल लाया
जिसको बुद्धि हो समझ ले
जिसको कान हो सुन ले
जिसको लगन हो पा ले।



ॐ
हं
क्षं
अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल

मैं आत्मा हूँ

मैं रात्रि में सोता हूँ
और स्वप्न देखता हूँ कि
मैं एक गृहस्थ हूँ।
लेकिन वास्तव में मैं संन्यासी हूँ।
मैं सत्य को तभी जान पाता हूँ,
जब जग जाता हूँ।
इसलिए अब भी संन्यासी हूँ।
इसी प्रकार, वास्तव में मैं आत्मा हूँ
यद्यपि किसी तरह मैं अपने वास्तविक स्वभाव को
भूल गया हूँ।





जीवन-संगम

मैं मृत्यु को जीवन की पूर्णाहुति नहीं मानता।
जीवन और मृत्यु दोनों से मेरा सम्बन्ध है,
इसलिए दोनों में मेरी दिलचस्पी है।
अत: मैं जीवन को सार्थक करता हूँ
और मृत्यु को सजाता हूँ।

मौत से भयभीत होने वाले लोगों।
आओ,
सुहाग सज रहा है।
दुलहन आ रही है।
टीका चढ़ रहा है।
अग्नि जल रही है।
अपने कदम उठाओ,
और निर्भय होकर दरवाजा पार करो।

अरे, तुम समझे नहीं!
जीवन के कदम
मौत की देहरी से प्रारम्भ होते हैं।
मौत जीवन के दो विचारों को मिलाने वाली नदी है।
मृत्यु पुरोहितों!
अग्नि मुख से,
चिताओं के स्वर में,
जीवन-संगम के मधुमय मंत्र गाओ।



आत्मा का समर्पण

मैं उसकी ओर देखता हूँ
जो मेरी ओर देखता है।
मैं उसके निकट जाता हूँ
जो मेरे निकट आता है।
मैं उसके अन्दर जाग्रत होता हूँ
जो मेरी चेतना के अन्दर जगा रहता है।
वाणी नहीं; मन चाहिए।
नहीं, मन भी नहीं; बल्कि आत्मा चाहिए।
किसने आत्मा को
मेरी चेतना की वेदी पर समर्पित किया है?



मेरा स्वरूप

मैं निष्काम हूँ।
कोई भी वस्तु ऐसी नहीं
जिसकी मुझे लालसा है।
मुझे जीवन में
किसी वस्तु का अभाव नहीं।
मुझे कुछ भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं।
केवल आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिए
मैं आता हूँ
घूमता हूँ
और बातें करता हूँ।
तुम मुझे अपना गुरु बनाओ
अथवा न बनाओ;
मुझे इसकी परवाह नहीं।
क्या तुम्हारी तरह कुन्द मस्तिष्क वालों को
चमत्कार दिखाकर प्रभावित करने से
कोई लाभ है भला?



भगवान मृत्युंजय को वचन

ॐ नमो नारायण
भगवान मृत्युंजय!
मैंने तुम्हारी आराधना की है
काल भैरव के रूप में एक तत्त्व से
कामाख्या में पाँचों तत्त्वों से
विष्णु के रूप में पत्र, पुष्प, फल और दूध के साथ।
अनेक रूपों में, अनेक विधियों से,
और अनेक स्थानों पर।
तुमने जिस रूप में दर्शन दिया, उसी रूप में
मैंने तुम्हारा पूजन किया।
और अब, मैं तुम्हारी आराधना करूँगा,
श्मशान भूमि में
हर साँस।
यह मेरा प्रॉमिस है।





अवतार पुरुष

(परमहंस सत्यानन्द द्वारा सन् 1943 में अपने गुरु स्वामी शिवानन्द सरस्वती के जन्मोत्सव के अवसर पर लिखे गये काव्य का एक अंश)

पुण्य धरा जब त्रस्त हुई दुःख-दैन्य-व्यथामय शाप लिये,
तत्क्षण आया वसुधातल पर अमर पुरुष नर-वेष लिये।
उद्विग्न बनी जब मानवता भ्रम में औ' अज्ञान-विवर में,
पुण्य-रूपमय पुण्य-पुरुषवर आश्रय देता पुण्य अधर में ॥

नहीं कभी था जग ने देखा स्वामी ऐसा उज्ज्वल पावन,
अंधों का था नयन अमर वह, अधरों का रक्ताभ सुहावन।
जग का वह शृंगार नवल था, मानवता का जीवन दानी –
वसुधा की गोदी में आकर उसने सुन ली करुण कहानी ॥

मंगलमय शुभ-मंगलकारी जग-जन मंगल औ' आत्मा था,
स्वप्न-सृष्टिगत मानव द्वारा कहलाता वह परमात्मा था।
शतलक्ष अंशुमाली सा वह अनुभव-पथ को ज्योतित करने,
लेकर शुचि-कांति विमल आया जगती में नवजीवन भरने ॥

युगानुयुग से रोदन-तन्मय नर-भूतल को उसने देखा,
क्रांति-द्रोह से श्रान्त-क्लान्त जब क्रांति मही को उसने देखा।
मानवता की भौतिकता ने तब था सन्तत उत्पात मचाया,
रण-विस्फोटों का कौतुक कर वह द्रावक-भयपात मचाया ॥

उसने जाना जग को मिथ्या, केवल पीड़ामय औ' रोदन,
देखे उसने कवि के आँसू, उपहार नहीं वे उर क्रन्दन।
मानव के उस चिर क्रन्दन से वैराग्य भाव का ज्वार उठा,
वह सोता सिंह जगा, जैसे भू-द्रोह निवारण भार उठा ॥

अजर अभय था पुण्य पुरुष वह पूर्ण-ज्योति परिव्याप्त चराचर,
लीलामय मानव तन धर कर जगतीतल में ज्योति अमर वर।
जग, धन-वैभव तजकर आया सत्य धर्म पथगामी बनने,
झिलमिल करते जग-वैभव को दूर विजन में आया तजने ॥

मर्त्य धरा में वेष अमरवर, हो अवतीर्ण जगत में शंकर,
सत्य दृष्ट चिर-धर्म प्रवर्तक सत्य महा बन आया भू पर।
वही पुरुष है यह जो करता, प्रतियुग अपनी लीला भू पर,
इसी पुरुष ने लहराया है सत्यधर्म का गौरव ऊपर॥

मानवता का परिपालक वह दीप-शिखा-आगार बना था,
सान्ध्य-गीत सम शुभ्र सजलतम, तत्क्षण जो आधार बना था।
पृथुजा में नव-क्रीड़ा की जब स्नेह-सहित शुचि आलिंगन कर,
विश्व-अहंता का मद विकृत, जग-जन मंगलदान अमरवर॥

जाग्रति की आलोक किरण था, अन्त: पट की हरियाली था,
हँस-हँस उसने हमें सिखाया, खेल मुक्ति-पथ होली का था।
भागी मानव के सुख का अमरत्व किरण संचारक था,
वह सत्यसन्ध नर-पुराचीन, भव केवल, जग का तारक था।

मानवता के विद्यालय में वह भी शिक्षा अद्भुत लेता,
आकुल पर निज अश्रु बहाता, अपना सुख पल में तज देता।
शान्तोज्ज्वल अमर-चरित्र तथा रग-रग में था विश्वास भरा,
जग-जीवन का दिनकर बनकर, हृत्पिण्ड महाचिर-तिमिर हरा॥

प्रकृति के सुविकम्पन में था शान्त अमर गाम्भीर्य महान्
इस राम-रूपमय जग में वह अभिनव-पावन, दिवपथ गान।
था एक अमर उद्‌देश्य लिये वह जगतीतल में आया जब –
भय-भीषण का प्रतिरोधी शुचि नवल स्फूर्ति ला पाया तब॥

मानव का वह वैभव प्यारा, जीवन की वह सुन्दरता था,
सरिता की चल-चपल लहर सा तरुदल की नीरवता था।
अज्ञात दिशा का वासी, वह सब का था अन्तर्यामी –
जगतीपथ पर वह चला, चले जड़ चेतन बनने अनुगामी॥

नव जाग्रति अधिनायक था रे, जीवन-वीणा का गायक था,
आया जीवन अभिनव करने नव चित्र-पटों का नायक था।
दीनों का वह पावन स्वामी, दु:खियों का वह अभिभावक रे,
आज तभी हम मानव कहते – वह जाग्रति का अधिनायक रे॥

जन-जन की वह सेवा करता, शान्ति सुधामृत देता जाता,
जग शासन का सत्य नियामक, दीपशिखा पर नर्तन करता।
देखो, वह सबसे उन्नत, उसका विश्व, वही है प्रहरी,
विश्व उसी की आत्मा भूमा, सन्त वही, वह जीवन-लहरी ॥

सत्य धर्म के परम शिखर हे, शान्ति धरा के अनुशासक हे,
मानव को बस अमर बनाना, मानवता के उन्नायक हे
तेरे चरण-रजों में प्रिय, है मानव का सर्जन उद्भव-नव,
सत्य-प्रेम-शुचि-अस्त्र समन्वित जग के पावन-कर्ता जय-जय ॥

हम सब भी अवतार बने द्रुत, ऐसा शुभ-वरदान हमें दो
जिससे यह भवपोत अमर हो, दिव्य अमरता प्रभो हमें दो,
विश्व अमर हो, देव अमर हो, आत्मा में हम शांत अभय हों,
सत्य शांति के अनहत-स्वर में, भेद विलय हो, हम चिन्मय हों॥





जीवन की खोज

यह अभी तक समस्या है
इसका समाधान करने वाला अभी तक हुआ नहीं
अनन्त की असीमता के समान यह भी एक रहस्य है
योगी, तपस्वी, ज्ञानी, महात्मा, वैज्ञानिक सभी हार खा गये
या जीवन की भौतिक खोज में खो गये
या फिर जीवन की आनन्दमयी सत्ता में सब कुछ भूल गये
किसी ने आत्मा को पहचाना, किसी ने परमात्मा को
किसी ने ईश्वर को जाना, कोई प्रकृति में भटकता रहा
कोई अनन्त प्रवाह में ब्रह्माण्ड को खोजने चला
किसी ने विशाल जल-राशि के अन्दर छिपे हुए संसार को खोजा
तो किसी ने विशाल वायुमण्डल की परिधि को
किसी ने शान्ति खोजी, किसी ने विप्लव मचाया
पर जीवन की अन्तर्मुखी खोज आज तक पूर्णता से किसी ने नहीं की।



अमर जीवन

भगवान् कृष्ण का रेकार्ड था – 99 लांछनाएँ
मैं अनन्त लांछनाएँ सहने को तैयार हूँ,
पर अपने को मुक्त घोषित करने की भावना नहीं रही,
क्योंकि मुझे चलना है, पहुँचना है, पहुँचाना है
जीना है, जिलाना है।
और वे तो रहेंगे नहीं
पानी पर के नक्शे मिट जायेंगे
गंगा सनातन है।
    मैं शान्तिमूर्ति बनूँ
    घृणा के बदले प्रेम
    नुकसान के बदले क्षमा
    अन्धकार के बदले प्रकाश
    उदासी के बदले प्रसन्नता
    शंका के बदले श्रद्धा
    और निराशा के बदले
    आशा देता जाऊँ।
मुझे सान्त्वना नहीं देनी है
सफाई नहीं देनी है
समझाना है सबको
प्रेम लेना नहीं, देना है
क्योंकि देने वाले को मिलता है
क्षमाशील को क्षमा मिलती है
और मृत्यु प्रेमी को अमर जीवन मिलता है
    योग के प्रकाश को फैलाओ
    अन्दर-बाहर दिव्य प्रकाश
    जगत् के अन्धकार से निराश नहीं होना है
    प्रकाश के लिए जुटना है।



कभी-कभी सुरत खुलती है
तो नाद जगता है
तब सारे छन्द खुलते,
सारे गीत जगते,
और सारे सद् वचन मुक्त हो उठते हैं।
कभी जरूर इसे अपनाना।

Synopsis of the Life of Swami Satyananda Saraswati

Swami Satyananda Saraswati was born in 1923 at Almora (Uttaranchal) into a family of farmers. His ancestors were warriors and many of his kith and kin down the line, including his father, served in the army and police force.

However, it became evident that Sri Swamiji had a different bent of mind, as he began to have spiritual experiences at the age of six, when his awareness spontaneously left the body and he saw himself lying motionless on the floor. Many saints and sadhus blessed him and reassured his parents that he had a very developed awareness. This experience of disembodied awareness continued, which led him to many saints of that time such as Anandamayi Ma. Sri Swamiji also met a tantric bhairavi, Sukhman Giri, who gave him *shaktipat*, transmission of energy, and directed him to find a guru in order to stabilize his spiritual experiences.

In 1943, at the age of 20, he renounced his home and went in search of a guru. This search ultimately led him to Swami Sivananda Saraswati at Rishikesh, who initiated him into the Dashnami order of sannyasa on 12th September 1947 on the banks of the Ganges and gave him the name of Swami Satyananda Saraswati.

In those early years at Rishikesh, Sri Swamiji immersed himself in guru seva. At that time the ashram was still in its infancy and even the basic amenities such as buildings and toilets were absent. The forests surrounding the small ashram were infested with snakes, scorpions, mosquitoes, monkeys and even tigers. The ashram work too was heavy and hard, requiring Sri Swamiji to toil like a labourer carrying bucket loads of water from the Ganga up to the ashram and digging canals from the high mountain streams down to the ashram many kilometres away, in order to store water for constructing the ashram.

Rishikesh was then a small town and all the ashram requirements had to be brought by foot from far away. In addition there were varied duties, including the daily pooja at Vishwanath Mandir, for which Sri Swamiji would go into the dense forests to collect bael leaves. If anyone fell sick there was no medical care and no one to attend to them. All the sannyasins had to go out for bhiksha or alms as the ashram did not have a mess or kitchen.

Of that glorious time when he lived and served his guru, Sri Swamiji says that it was a period of total communion and surrender to the guru tattwa, whereby he felt that just to hear, speak of or see Swami Sivananda was yoga. But most of all through his nishkama seva he gained an enlightened understanding of the secrets of spiritual life and became an authority on yoga, tantra, Vedanta, Samkhya and kundalini yoga. Swami Sivananda said of Swami Satyananda, "Few would exhibit such intense vairagya at such an early age. Swami Satyananda is full of the Nachiketa element." Although he had a photographic memory, a keen intellect, and his guru described him as a versatile genius, Swami Satyananda's learning did not come from books and study in the ashram. His knowledge unfolded from within through his untiring seva as well as his abiding faith and love for Swami Sivananda, who told him, "Work hard and you will be purified. You do not have to search for the light; the light will unfold from within you."

In 1956, after spending twelve years in guru seva, Swami Satyananda set out as a wanderer (*parivrajaka*). Before his departure Swami Sivananda taught him kriya yoga and gave him the mission to "spread yoga from door to door and shore to shore".

As a wandering sannyasin, Swami Satyananda travelled extensively by foot, train, horse, boat, bullock-cart and elephant throughout India, Afghanistan, Burma, Nepal and Ceylon. During his sojourns, he met people from all strata of society and began formulating his ideas on how to spread the yogic techniques. Although his formal education and spiritual tradition was that of Vedanta, the task of disseminating yoga became his movement.

His mission unfolded before him in 1962 when he founded the International Yoga Fellowship Movement with the aim of creating a global fraternity of yoga. As his mission was revealed to him at Munger, Bihar, he established the Bihar School of Yoga in Munger. Before long his teachings were rapidly spreading throughout the world. From 1963 to 1982, Swami Satyananda took yoga to each and every corner of the world, to people of every caste, creed, religion and nationality. He guided millions of seekers in all continents and established centres and ashrams in different countries.

His frequent travel took him to Australia, New Zealand, Japan, China, the Philippines, Hong Kong, Malaysia, Thailand, Singapore, USA, England, Ireland, France, Italy, Germany, Switzerland, Denmark, Sweden, Yugoslavia, Poland, Hungary, Bulgaria, Slovenia, Russia, Czechoslovakia, Greece, Saudi Arabia, Kuwait, Bahrain, Dubai, Iraq, Iran, Pakistan, Afghanistan, Colombia, Brazil, Uruguay, Chile, Argentina, Santo Domingo, Puerto Rico, Sudan, Egypt, Nairobi, Ghana, Mauritius, Alaska and Iceland. One can easily say that Sri Swamiji hoisted the flag of yoga in every nook and cranny of the world.

Nowhere did he face opposition, resistance or criticism. His way was unique. Well-versed in all religions and scriptures, he incorporated their wisdom with such a natural flair that people of all faiths were drawn to him. His teaching was not just confined to yoga but covered the wisdom of many millenniums.

Sri Swamiji brought to light the knowledge of tantra, the mother of all philosophies, the sublime truths of Vedanta, the Upanishads and Puranas, Buddhism, Jainism, Sikhism, Zoroastrianism, Islam and Christianity, including a modern scientific analysis of matter and creation. He interpreted, explained and gave precise, accurate and systematic explanations of the ancient systems of tantra and yoga, revealing practices hitherto unknown.

It can be said that Sri Swamiji was a pioneer in the field of yoga because his presentation had a novelty and freshness. Ajapa japa, antar mouna, pawanmuktasana, kriya yoga and prana vidya are just some of the practices which he introduced in such a methodical and simple manner that it became possible for everyone to delve into this valuable and hitherto inaccessible science for their physical, mental, emotional and spiritual development.

Yoga nidra was Sri Swamiji's interpretation of the tantric system of nyasa. With his deep insight into this knowledge, he was able to realize the potential of this practice of nyasa in a manner which gave it a practical utility for each and every individual, rather than just remaining a prerequisite for worship. Yoga nidra is but one example of his acumen and penetrating insight into the ancient systems.

Sri Swamiji's outlook was inspiring, uplifting as well as in-depth and penetrating. Yet his language and explanations were always simple and easy to comprehend. During this period he authored over eighty books on yoga and tantra which, due to their authenticity, are accepted as textbooks in schools and universities throughout the world. These books have been translated into Italian, German, Spanish, Russian, Yugoslavian, Chinese, French, Greek, Iranian and most other prominent languages of the world.

People took to his ideas and spiritual seekers of all faiths and nationalities flocked to him. He initiated thousands into mantra and sannyasa, sowing in them the seed to live the divine life. He exhibited tremendous zeal and energy in spreading the light of yoga, and in the short span of twenty years Sri Swamiji fulfilled the mandate of his guru.

Thus, by 1983, Swami Satyananda's tireless efforts to spread the message of yoga had touched the whole world. He had also trained a core of sannyasins to transmit the yogic techniques for different needs and cultures, and they had established many Satyananda Yoga ashrams, schools and centres around India and the world. Bihar School of Yoga was well established and recognized throughout the world as a reputed and authentic centre for learning yoga and the spiritual sciences. More than that, yoga had moved out of the caves of hermits and ascetics into the mainstream of society. Whether in hospitals, jails, schools, colleges, business houses, the sporting and fashion arenas, the army or navy, yoga was in demand. Scientific research into yogic techniques was being

conducted all over the world. Professionals such as lawyers, engineers, doctors, business magnates and professors were incorporating yoga into their lives. So too were the masses. Yoga had become a household word.

Then, at the peak of his accomplishment, Sri Swamiji renounced all that he created. He appointed Swami Niranjanananda as his successor and gave him the mandate to continue the work, and then began to gradually withdraw from the teaching and administering of the yoga movement. In 1988, Sri Swamiji renounced disciples, establishments and institutions, and departed from Munger, never to return again. He went on a pilgrimage through the *siddha teerthas* (spiritual centres) of India as a mendicant, without any personal belonging or assistance from the ashram or institutions he had founded.

At Tryambakeshwar, before the jyotirlingam of Lord Mrityunjaya, his ishta devata, he renounced his garb and lived as an avadhoota. And here, at the source of the Godavari River near Neel Parbat, while performing chaturmas anushthana, his future place of abode and sadhana were revealed to him. He received the mandate for a new mission, to progress toward the cosmic dimension through unbroken remembrance and repetition of the Lord's name with every breath. On 8th September, 1989, birthday of his guru Swami Sivananda, he heard the voice loud and clear, "Chitabhoomi", and saw a vision of the place where he was intended to go.

Swami Satyananda did not choose Rikhia, it was chosen for him. After leaving Munger, while roaming the length and breadth of India, he came across many beautiful places where he was invited to take up residence. However, in keeping with his style of surrender he awaited the mandate of his ishta and guru, which guided him to the small nondescript, unknown village of Rikhia, on the outskirts of Baba Baidyanath Dham in Deoghar (Jharkhand), the *chitabhoomi* or cremation ground of Sati, consort of Shiva.

Sri Swamiji arrived at Rikhia on 23rd September 1989, at midday, the day of vernal equinox, when nature is in perfect balance as the day and night are equal. Soon after, he lit a *dhuni* or fire and called it Mahakal Chita Dhuni. Lighting a dhuni is a very ancient tradition among sadhus. It is believed that the ash from a sadhu's dhuni is very potent, for his entire day is spent in front of the dhuni and all his acts are performed with the fire as witness.

The Rikhia that Swami Satyananda arrived in was still living in the sixteenth century. There were no roads, electricity, telephones, newspapers, television or shops. However, its vibrations were pure and spiritual, providing an ideal climate for the seclusion which he imposed on himself. He began a life of intensive spiritual practice, entering the lifestyle of paramahamsas who do not work for their flock and mission alone, but have a universal vision. His first anushthana commenced in 1989 during Ashwin Navaratri: the performance of ashtottar-shat-laksh (108 lakh) mantra purascharana which took him three hundred days to complete. He gave up the geru cloth and donned the kaupeen, loin cloth, an important hallmark in the life of a sadhu denoting that vairagya and dispassion are an inherent part of his being. He no longer associated with any institutions, nor gave diksha, upadesh or received dakshina, but remained in seclusion and sadhana.

In a conclusive message, he told all, "I have nothing more to say to anyone and no further guidance to give. For over twenty years I have lived with the people answering their questions and helping them on their spiritual path. Now I withdraw my responsibility. Those who are receptive, they will surely benefit from what I have told them, but those who are not, they will now have to find their own way."

In 1990, he designated the sadhana sthal as Sri Panch Dashnam Paramahamsa Alakh Bara, denoting it as a place where a sannyasin who has perfected himself consolidates his learning and gives it momentum to attain greater spiritual heights. The *ishta devi*, presiding goddess, of the akhara was established as Tulsi Ma, the benevolent force presiding over all spheres. Now Sri Swamiji undertook the vow of *panchagni*, the five-fire austerity, in which he performed higher sadhanas sitting before five blazing fires outdoors during the hottest months of the year. The vow culminated in 1998. The fire lit by Sri Swamiji is still burning at Rikhiapeeth and is worshipped daily at sunrise and sunset with aromatic herbs amidst the chanting of vedic mantras.

In 1991, Swami Satyananda received another divine mandate: "Take care of your neighbours as I have taken care of you." Seeking to strike a balance between the personal aspect of spiritual liberation and the social aspect of helping others, he gave Swami Niranjanananda a new task for Sivananda Math: service to and improvement of the living conditions of the tribal people in the thousands of villages surrounding Rikhiadham. Thus, from 1991 onwards, Sivananda Math undertook to finance and construct homes for the homeless, provide for clean drinking water, essential medical facilities, free clothing and household items. In the second phase of assistance, means of sustainable livelihood were provided.

In 1994, in a month-long darshan, Sri Swamiji gave a new message, of bhakti yoga. He said that the purpose of human life is to realize God through love and to serve God by helping humanity. He prophesied that while hatha yoga and raja yoga were the panacea of the twentieth century, devotion to God and bhakti yoga would be the panacea of the twenty-first.

In 1995, Sri Swamiji held the first Sat Chandi Maha Yajna, invoking the Cosmic Mother through a tantric ceremony hitherto not witnessed by common people. During this event, Sri Swamiji also passed on his spiritual and sannyasa sankalpa to Swami Niranjanananda.

In 1996, the annual event included Rama Naam Aradhana and Sita-Rama Vivaha, and in 1997, Sri Swamiji declared it as Sita Kalyanam. In 2001, for the first time he revealed that the yajna was part of the 12-year Rajasooya Yajna, a ceremony that is traditionally performed by a conqueror.

"I am performing the Rajasooya Yajna not as a conqueror of land, wealth or people, but because I was able to establish an empire of yoga, which is the need of today in our civilization," said Sri Swamiji. "Yoga works at the spiritual, mental and physical levels to improve the quality of life, and that is also the concept of prosperity in today's society. We have wealth, but we lack quality of life and peace of mind. I am performing the Rajasooya Yajna to re-establish peace of mind, to re-equip people with the riches of contentment, happiness, joy and wellbeing."

In 1998, Sri Swamiji also inspired Sivananda Math to undertake an education project. Thus scholarships were given to deserving students of Rikhia panchayat with special emphasis on the education of girls. English classes were also started at the ashram. By 2001, nearly all eligible children aged between 6–12 years of Rikhia panchayat had been adopted into the ever-expanding family of Swami Satyananda. In 2003, computer training was started. The girls, called *kanyas*, were also taught chanting of Sanskrit stotras. The boys, *batuks*, were simultaneously introduced to Gayatri mantra, Bhagavad Gita, surya namaskara, and rituals of havan and worship. Today these little children confidently conduct all the ceremonies and rituals at Rikhiapeeth before thousands of devotees who come to participate in these events.

In 2004, Sivananda Ashram was formed with the main thrust of looking after the elderly and infirm, including widows. It has also undertaken a project to provide one wholesome meal a day to the children and elderly of Rikhia panchayat.

Thus, in a short span of time, a silent revolution has taken place in Rikhia. It was all made possible by a sannyasin who came to this place to live in solitude. Sri Swamiji says, "After coming to Rikhia my cataracted vision was corrected. I have lived a spiritual life for more than sixty years. I have practised every form of yoga, but ultimately I found that when I began to think about others, God began to think about me. On my guru's instructions, I lit the flame of yoga in Munger and the light of seva in Rikhia. This is the requirement of humanity today."

In 2007, Sri Swamiji announced the formation of Rikhiapeeth. He said, "The Rikhia ashram will now be known as Rikhiapeeth. Peeth means 'seat', an apt term for Rikhia as the instructions given to me by Swami Sivananda have culminated and fructified here. Rikhia is an ashram in the original sense of the word because here a lifestyle is lived. Swami Satyasangananda is the Peethadhishwari of Rikhiapeeth and has been given the sankalpa that the three cardinal teachings of Swami Sivananda, serve, love and give, will be practised and lived here. This is the future vision of Rikhiapeeth."

In 2009, after participating in and giving darshan during Sat Chandi Mahayajna and Yoga Poornima where Sri Swamiji inspired everyone to lead the righteous life and bid final farewell to the thousands who had gathered to participate in these events, he entered into mahasamadhi on the midnight of 5th December and merged into Swami Sivananda, our sadguru.



ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोर्पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोर्कृपा ॥

Institutions Inspired by Swami Satyananda Saraswati



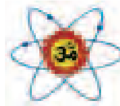
International Yoga Fellowship Movement (IYFM), 1956



Bihar School of Yoga (BSY), 1963



Sivananda Math (SM), 1984



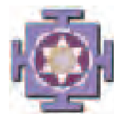
Yoga Research Foundation (YRF), 1984



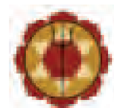
Sri Panchdashnam Paramahamsa Alakh Bara (PPAB), 1989



Bihar Yoga Bharati (BYB), 1994



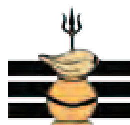
Yoga Publications Trust (YPT), 2000



Sivananda Ashram (SA), 2006



Rikhiapeeth, 2007



Sannyasa Peeth, 2010